NAMO SAKYAMUNI BUDDHA

बौद्ध धर्म

एक बुद्धिवादी अध्ययन

डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन

बुद्ध भूमि प्रकाशन, नागपुर

बौद्ध धर्म – एक बुद्धिवादी अध्ययन

© बौद्ध प्रशिक्षण संस्थान

पाँचवा संस्करण :
२४ अक्तूबर १९९३
२००० प्रतियाँ

प्रकाशक :
काशीनाथ मेश्राम
बुद्ध भूमि प्रकाशन
कामठी रोड, नागपुर – ४४१ ००२
फोन – ६८८७३२

मुद्रक :
विज्ञानेश्वर श्या. बनहट्टी,
श्रीनिवास मुद्रणालय,
'सुविचार भवन',
धनतोली, नागपुर – १२

पुस्तक प्राप्तिस्थान :
डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन बुक डेपो
राहुल बाल सदन,
महेन्द्र नगर, नागपुर – ४४० ०१७.
फोन – ६४०३६०

Printed and donated for free distribution by
The Corporate Body of the Buddha Educational Foundation
11F., 55 Hang Chow South Road Sec 1, Taipei, Taiwan, R.O.C.
Tel: 886-2-23951198 , Fax: 886-2-23913415
Email: overseas@budaedu.org
Website:http://www.budaedu.org
Mobile Web : m.budaedu.org
This book is strictly for free distribution, it is not to be sold.
यह पुस्तिका विनामूल्य वितरण के लिए है बिक्री के लिए नही ।

जिन की जिज्ञासाओं ने
समय-समय पर, मेरे मस्तिष्क पर
चिन्तन की
अनेक रेखायें खींची;
ऐसे सभी विज्ञ-जनों को

आत्म-निवेदन

यह चर्चा का विषय बन सकता है कि प्रश्न पूछनेवाला, प्रश्नों को उत्तर देने वाले से अधिक सीखता है, अथवा प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास करनेवाले किसी जिज्ञासु से ? इन पंक्तियों के लेखक ने जो कुछ भी सीखा है, अपने भीतर के प्रश्न पूछनेवाले से तथा दूसरे जिज्ञासुओं से ही। प्रश्न पूछने की सामर्थ्य ही ज्ञान की जननी है और किसी भी विषय में सन्देह पैदा होना ज्ञान का जनक।

गत चालीस वर्षों से बौद्ध धर्म सम्बन्धि उहा-पोह चलती ही रही है। सार्वजनिक भाषणों की समाप्ति पर अनेक लोगों ने कभी जिज्ञासु भाव से कभी किसी अन्य भाव से भी प्रश्न पूछे ही हैं। सब से अधिक प्रश्न पूछे हैं लेखक ने स्वयं अपने से। यह 'अध्ययन' अधिकांश में अपनी शंकाओं का समाधान है।

लोगों की यह मान्यता है कि "परलोक" के ही लिए 'धर्म' है। इस अध्ययन में बौद्ध-धर्म का सांदृष्टिक पक्ष (इहलौकिक-पक्ष) उजागर किया गया है। आज दिन, बिचारे मानव पर 'परलोक' इतना अधिक हावी हो गया है कि उसका 'इहलोक' कहीं का रहा ही नहीं। इस 'अध्ययन' में बौद्ध-धर्म की इह-लौकिक व्याख्या ही है। नरक-स्वर्ग, देव-प्रेत योनियों का अभाव किसी को भी खटकेगा। यह मान लिया गया है कि जिसका 'इहलोक' ठीक है, उसका 'परलोक' भी ठीक हो और जिसके 'इहलोक' का ही ठिकाना नहीं, उसके 'परलोक' का भी क्या भरोसा !

यह रचना विद्यालंकार विश्वविद्यालय, कैलानिया (श्री. लंका) में अध्ययन–अध्यापन करते समय लिखी जानी आरम्भ हुई और नातिदीर्घ-काल में समाप्त भी हो गयी थी।

इसके प्रथम संस्कारण के प्रकाशन का श्रेय सारनाथ के लामा थुबतन् जुङ् को रहा हैं और इसके मुद्रण का श्रेय रहा है, हिन्दी-प्रचारक पुस्तकालय के श्री. बेरी जी को।

पुस्तक का संस्कारण समाप्त हुये काफी दिन हो गये। पाठकों को यह पुस्तक अच्छी लगी यह इस बात का प्रमाण है कि इस कृति के जिज्ञासों की किन्हीं जिज्ञासीयों का समाधान किया है।

यह लेखक के लिये स्वाभाविक हर्ष का विषय है।

१५ वाँ दीक्षा समारोह
२९ सितम्बर १९७१

—आनन्द कौसल्यायन

★ ★

संपादकीय

इस पुस्तक के पांचवे संस्करण के लिए लिखते मुझे अत्यंत हर्ष हो रहा है। श्रीलंका में इसे लिखते समय इन पंक्तियों का लेखक साथ रहा है।

लेखक पू. डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन महास्थविर (५. १. १९०५–२२. ६. १९८८) एक बुद्धिवादी स्वतंत्र चिंतक थे। उसी चिंतन से इस ग्रंथ की निर्मिती हुई है।

अब तक इस ग्रंथ के चार संस्करण छप चुके हैं। उनमें प्रश्नों की संख्या नहीं दी गई थी। किन्तु इस के अंग्रेजी रुपांतर में प्रश्नों की संख्या दी गई है। उसी प्रकार मैंने इस संस्करण में भी प्रश्नों की संख्या दी है। कुल प्रश्न २६४ हैं और उनके उत्तर।

पुस्तक का चौथा संस्करण समाप्त हुये काफी दिन हो गये। यह इस बात का प्रमाण है कि जिज्ञासू पाठकों ने इसे पसंद किया।

बुद्ध भूमि प्रकाशन के आयु. काशीनाथ मेश्राम ने इसे छपवाने में बड़ी मेहनत की है। राहुल बाल सदन की संचालिका आयुष्मति विमल आळे के उत्साह एवं सहायता के कारण ही यह संस्करण संभव हो सका। इसी प्रकार नागपुर की विख्यात ग्रंथ मुद्रण संस्था 'श्रीनिवास मुद्रणालय' के चालक श्री. विज्ञानेश्वर बनहट्टी, उनकी सहायिका भगिनी सौ. करुणा सगदेव और कर्मचारीं वर्ग ने इस पुस्तकको शुद्ध एवं समयपर छपवाकर भन्तेजी के प्रति अपना आदर प्रकट किया है। वे सब धन्यवाद के पात्र है।

॥ सभी का मंगल हो ॥

भिक्षु मेधंकर
संपादक

३७ वां दीक्षा समारोह
२४ अक्तूबर १९९३
बुद्ध भूमि, कामठी रोड,
नागपुर

एक बुद्धिवादी अध्ययन –

बौद्धधर्म

—: ० :—

प्र. 1 : क्या हर किसी का कुछ न कुछ "धर्म" होना ही चाहिये ?

उ. : इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि हम "धर्म" शब्द से क्या भाव ग्रहण करते हैं ? हमें "धर्म" शब्द को उसके व्यापक अर्थों में ग्रहण करना चाहिये । आदमी के सोचने और तदनुसार आचरण करने का नाम ही आदमी का वास्तविक "धर्म" है । यह जो बौद्ध, हिन्दू, ईसाई, मुसलमान आदि "धर्म" हैं, यह भी आदमियों के सोचने और तदनुसार आचरण करने के हिसाब से ही किये गये उन के मोटे विभाजन हैं ।

प्र. 2 : तो हम किसे तो "बौद्ध" कह सकते हैं और किसे "हिन्दू", किसे "ईसाई" और किसे "मुसलमान" ?

उ. : जिस व्यक्ति ने बुद्ध, धर्म, संघ की शरण ग्रहण की हो, जो भगवान् बुद्ध के उपदेशों के अनुसार चलने का प्रयास करता हो, वह "बौद्ध" कहलाता है । "हिन्दू" की परिभाषा करना आसान नहीं । मोटे तौर पर हम यही कह सकते हैं कि हर वह भारतवासी जो "बौद्ध" नहीं, जो "ईसाई" नहीं, जो "मुसलमान" नहीं और जो कदाचित् "जैन" भी नहीं, वह "हिन्दू" है । "ईसाई" खुदा और उन के बेटे हजरत "ईसा" पर ईमान लानेवालों को कहते हैं, तथा "मुसलमान" खुदा और उसके पैगम्बर हजरत मुहम्मद पर ईमान लानेवालों को ।

प्र. 3 : तब "जैन" किन्हें कहते हैं ?

उ. : "जैन" कहते हैं बौद्धों की ही तरह के श्रमण संस्कृति के उन अनुयाईयों को जो तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तथा तीर्थङ्कर निर्ग्रन्थनाथ-पुत्र (महावीर) के दिखलाये हुए मार्ग पर चलने का प्रयास करते हैं ।

प्र. 4 : सुना है कि बौद्ध लोग "भगवान्" को नहीं मानते, तो "भगवान् बुद्ध" का मतलब ?

उ. : बौद्ध लोग आदमियों के बनाये हुए किसी ऐसे "भगवान्" को नहीं मानते, जिसके बारें में कहा जाता है कि उसने आदमियों को बनाया। बौद्ध लोग उस महामानव को ही "भगवान्" मानते है, जिससे बढ़कर उनकी दृष्टि में कोई दूसरा ज्येष्ठ-श्रेष्ठ व्यक्ति नहीं हुआ।

प्र. 5 : ईसाई कहते हैं कि हजरत ईसा "खुदा का बेटा" था, कोई इनसान "खुदा का बेटा" नहीं बन सकता; मुसलमान् कहते हैं कि हज-रत मुहम्मद "खुदा का पैगम्बर" था, कोई इनसान "खुदा का पैगम्बर" नहीं बन सकता; हिन्दू कहते हैं कि भगवान् राम कृष्ण आदि "अव-तार" भी "ईश्वर के अवतार" थे, कोई इनसान् "ईश्वर का अवतार" नहीं बन सकता; तो क्या बुद्ध के धर्म के अनुसार भी कोई आदमी "बुद्ध" नहीं बन सकता ?

उ : बुद्ध के धर्म के अनुसार हर आदमी बुद्धाङ्कुर है, अर्थात् हर आदमी "बुद्ध" बन सकता है।

प्र. 6 : तो क्या सिद्धार्थ गौतम "बुद्ध" ही सब से पहले और सब से आखरी "बुद्ध" हुए ?

उ. : सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के "बुद्धत्व" लाभ करने से पूर्व दूसरे भी बहुत-से "बुद्ध" हुए माने जाते हैं; किन्तु उनकी ऐतिहासिकता सन्देह से परे नहीं।

प्र. 7 : तो सिद्धार्थ गौतम बुद्ध की ऐतिहासिकता में तो किसी प्रकार का सन्देह नहीं ?

उ. : उन की ऐतिहासिकता सन्हेह से परे है।

प्र. 8 : सिद्धार्थ गौतम बुद्ध का जन्म किस जगह हुआ था ?

उ. : जातक (निदान) अट्ठकथा में लिखा है कि "महापुरुष ने जन्म लेने के समय को विचारा। "फिर (किस) द्वीप में" यह विचारते हुए..."बुद्ध जम्बूद्वीप में ही जन्म लेते हैं," अतः (जम्बू) द्वीप का निश्चय किया। "जम्बूद्वीप तो दस हजार योजन बड़ा है, कौन-से प्रदेश में बुद्ध जन्म लेते हैं" इस तरह प्रदेश देखते हुए, मध्यप्रदेश पर उन की

दृष्टि पड़ी। "मध्य प्रदेश की पूर्वदिशा में कजंगल नामक कस्बा है उस के बाद बड़े शाल (के बन) हैं और फिर आगे सीमान्त देश। मध्य में सललवती नामक नदी हैं, उस के आगे सीमान्त (प्रत्यन्त) देश हैं।... दक्षिण दिशा में सेतकण्णिक नामक कस्बा हैं, उस के बाद सीमान्त देश हैं। पच्छिम दिशा में थून नामक ब्राह्मणों का ग्राम हैं, उसके बाद... सीमान्त देश हैं। उत्तर दिशा में उशीर-ध्वज नामक पर्वत हैं उस के बाद सीमान्त देश...है।...यह (मध्यदेश) लम्बाई में ३०० योजन, चौडाई में ढाई सौ योजन और घेरे में नौ सौ योजन है। इसी प्रदेश में बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, अग्र श्रावक (प्रधानशिष्य), महाश्रावक, चक्रवर्ती राजा तथा दूसरे महाप्रतापी ऐश्वर्यशाली, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य पैदा होते हैं। इसी में यह कपिल-वस्तु नामक नगर हैं, यहाँ ही मुझे जन्म ग्रहण करना हैं"-ऐसा निश्चय किया।"

कोई भी प्राणी अपने जन्म लेने से भी पूर्व अपने जन्म के बारे में कैसे विचार कर सकता हैं, पहले तो क्या यही बात विचारणीय नहीं हैं? स्पष्ट ही हैं कि सिद्धार्थ गौतम बुद्ध ने अपने जन्म से जिस देश और जिस प्रदेश को गौरवान्वित किया था, उसी का गौरव बढ़ाने के लिये ही इस सारे कथन की रचना हुई हैं। इस में मध्यप्रदेश की लम्बाई में ३०० योजन (=२४०० मील), चौड़ाई में २५० योजन (=२००० मील) बताया गया है और घेरा बताया गया है ९०० योजन (=७२०० मील) यह लम्बाई चौड़ाई का माप अक्षरशः सत्य नहीं माना जा सकता। क्योंकि मध्य-प्रदेश की कौन कहे, आज का समस्त भारतवर्ष भी इतना लम्बा-चौड़ा नहीं है। फिर यदि किसी प्रदेश की लम्बाई ३०० योजन हो, और चौड़ाई २५० योजन, तो उस का घेरा ११०० योजन के आस-पास होना चाहिये, न कि ९०० योजन। इस में से इतना कथन ही ग्रहन करने लायक है कि सिद्धार्थ गौतम का जन्म उस कपिलवस्तु में हुआ था, जो अब तिलौराकोट तौलिहवा के नाम से जाना जाता है और नैपाल तराई से दो मील उत्तर की ओर है: यह कपिलवस्तु मध्य-प्रदेश में स्थित था, जिस की पूर्वी-सीमा वर्तमान कंकजोल, जिला संथाल पर्गना

(बिहार) मानी जा सकती है; जिस के मध्य में वर्तमान सिलई नदी (हजारीबाग और मेदनीपुर जिला) थी, जिस के दक्षिण भाग में हजारी बाग जिले का सेतकण्णिक नाम का कोई कस्बा था, जिसकी पश्चिमी सीमा हरियाणा–प्रदेश के कर्नाल जिले का थानेसर नाम का कस्बा था और जिस की उत्तरी सीमा उशीरध्वज नाम का हिमालय का कोई पर्वत–भाग रही।

प्र. 9 : सिद्धार्थ गौतम बुद्ध ने किस कुल में जन्म लिया ?

उ. : इस विषय में भी वहीं निदान अट्ठकथा में लिखा है कि तब महापुरुष ने कुल का विचार किया। उन्होंने सोचा, "बुद्ध वैश्य या शूद्र कुल में उत्पन्न नहीं होते, लोकमान्य क्षत्रिय या ब्राह्मण इन्ही दो कुलों में उत्पन्न होते हैं। आजकल क्षत्रिय–कुल ही लोकमान्य हैं (इसलिये) इसी में जन्म लूंगा।"

यह लेख किसी की भी कल्पना हो स्पष्ट ही है कि यह जातिवाद से दूषित कल्पना है। क्या पहली तो आपत्ति यही नहीं हो सकती है कि कोई भी प्राणि अपने जन्म से पूर्व अपने जन्म के बारे में विचार ही कैसे कर सकता है ? दूसरी यह कि कोई भी महापुरुष केवल 'महाकुलों' में ही जन्म लेने की इच्छा को भी कैसे अपने मन में जगह दे सकता हैं ? संसार के बहुत से 'महापुरुषों' ने किन्हीं 'महामान्य' कुलों में जन्म ग्रहण नहीं किया। जातिवाद से दूषित यह लेख हर दृष्टि से अमान्य हैं। इस में ग्रहण करने लायक अंश इतना ही है कि सिद्धार्थ कुमार का जन्म क्षत्रिय–कुल में हुआ।

प्र. 10 : सिद्धार्थ गौतम के माता–पिता कौन थे ?

उ. : वहीं जातक की (निदान) अट्ठकथा में ही आगे लिखा है कि पिता का विचार करते समय निश्चय किया..."शुद्धोदन नामक राजा मेरा पिता होगा"। फिर माता का विचार करते हुए निश्चय किया, "बुद्धों की माता चञ्चल और शराबी तो होती नहीं, लाखों कल्पों से (दान आदि) पारमितायें पूरा करनेवाली और जन्म से ही

अखण्ड पञ्चशील (सदाचार) का पालन करनेवाली होती हैं। यह महामाया नामक देवी ऐसी ही है, यह मेरी माता होगी और इस की आयु दस मास सात दिन होगी।"

यहाँ भी क्या यह आपत्ति सार्थक नहीं कि कोई भी अपने जन्म से पूर्व अपने भावी माता-पिता का निर्णय कैसे कर सकता है ? दूसरे इसमें जो कहा गया है कि शुद्धोदन नामक 'राजा' मेरा पिता होगा, यह लेख इसी अर्थ में मान्य हो सकता है कि या तो शुद्धोदन 'राजा' नहीं ही रहा होगा, या 'राजा' शब्द के वर्तमान अर्थ में 'राजा' नहीं रहा होगा। ऐसा ध्यान में नहीं आता कि त्रिपिटक में शुद्धोदन को कहीं 'राजा' कहा गया हो। जो बात पिता के चुनाव के बारे में कही गई है, वही बात माता के चुनाव के बारे में भी लागू होती हैं। क्या कोई भी प्राणी अपने जन्म से पूर्व अपनी माता का चुनाव कर सकता है ? हाँ, यहाँ इतना कथन अवश्य मान्य ठहराना चाहिये कि सिद्धार्थ गौतम की माता महामाया देवी सदाचारिणी अवश्य रही होगी, क्योंकि वृक्ष की पहचान उस के फल से ही होती है। बच्चे अपने माता-पिता की ही मानसिक तथा शारीरिक परम्परा को आगे बढ़नेवाले होते हैं। किन्तु बिचारी महामाया देवी का तो सिद्धार्थ गौतम के जन्म के सातवें दिन ही शरीरान्त हो गया था। वह एक अबोध बालक की जननी मात्र सिद्ध हुई।

प्र. 11 : तब सिद्धार्थ गौतम का लालन-पालन किसने किया ?

उ. : सिद्धार्थ गौतम का लालन-पालन महामाया की ही छोटी बहन शुद्धोदन की दूसरी पत्नी महाप्रजापति गौतमी ने किया था।

प्र. 12 : अनेक महापुरुषों के जन्म के साथ कुछ अलौकिक घटनाओं के घटने की बात कही जाती है, क्या सिद्धार्थ गौतम के साथ भी कुछ अलौकिक किवदंतियाँ जुड़ी हुई हैं ?

उत्तर : हाँ; प्रायः प्राचीनकाल का ही नहीं, मध्यकाल तक का भी कोई भी महापुरुष ऐसा नहीं है जिस के जन्म के साथ कुछ न कुछ

अलौकिक घटनाये जोड़ न दी गई हों। सिद्धार्थ कुमार का जन्म भी इसका अपवाद नहीं हैं। जातक की (निदान) अट्टकथा में ही आगे लिखा हैं–

उस समय कपिलवस्तु नगर में आषाढ़ का उत्सव उद्घोषित हुआ था। लोग उत्सव मना रहे थे। पूर्णिमा के सात दिन पूर्व से ही महामाया देवी ने मद्यपान–विरत (हो) मालागन्ध से सुशोभित हो, उत्सव मनाती, सातवें दिस प्रातः ही उठ, सुगन्धित से स्नान कर, चार लाख का दान दे...सब अलंकारों से विभूषित हो, सुन्दर भोजन ग्रहण कर, उपोसथ (व्रत) के नियमों को ग्रहण कर, सु–अलंकृत शयनागार में सुन्दर पलंग पर लेट निद्रित अवस्था में यह स्वप्न देखा–

" ...बोधिसत्व श्वेत सुन्दर हाथी बन,...रूपहली माला के समान सूंड में श्वेत कमल लिये, मधुर नाद कर, दाहिनी बगल चीर, कुक्षिमें प्रविष्ट हुए जान पडे। इस प्रवर (बोधिसत्व ने) उत्तराषाढ नक्षत्र में गर्भ में प्रवेश किया।"

कोई भी प्राणी जो स्वप्न देखता है, वह प्रायः देखी–सुनी अनुभूत बातों की ही खिचडी होते हैं। यह हाथी के बगल चीर कर कुक्षि में प्रविष्ट होने की बात सिद्धार्थ–कुमार के गर्भाधान को अलौकिकता प्रदान करने के लिये ही रची गई प्रतीत होती हैं। इसी स्वप्न के बारे में आगे लिखा है––

" दूसरे दिन जागकर देवी ने इस स्वप्न को राजा से कहा। राजा ने ६४ प्रधान ब्राह्मणों को बुलाकर, गोबर से लिपी, धान की खीलों आदि से मंगलाचार की हुई भूमि पर महार्घ आसन बिछवा, वहाँ बैठे ब्राह्मणों को घी–मधु–शक्कर की बनी सुन्दर खीर से भरी और सोने चाँदी की थालियों से ढकी थालियाँ परोसीं (तथा) नये कपडों और कपिला गौ आदि से उन्हें सन्तर्पित किया। बाद में 'स्वप्न का फल' क्या होगा ? पूछा।" ब्राह्मणों ने कहा– "महाराज ! चिन्ता न करें। आप की देवी की कुक्षि में गर्भ धारण हुआ है। यह गर्भ बालक है, कन्या नहीं। आपको पुत्र होगा। यह यदि घर में रहा तो चक्रवर्ती राजा होगा

और यदि घर छोड परिव्राजक (साधु) हुआ तो कपाट-खुला (महाज्ञानी) बुद्ध होगा।"

ऐसा लगता है कि किसी मनचले अट्टकथाकार को ब्राह्मणवाद का एक साहित्यिक कार्टून बनाने की सूझी और तभी उस की लेखनी से उक्त पंक्तियाँ झरी। 'स्वप्न का फल' पूछने मात्र के लिये चौसठ-चौसठ ब्राह्मणों को सोने-चाँदी की थालियों से ढकी, सोने चांदी की थालियों में घी-मधु-शक्कर की बनी सुन्दर खीर खिलाना, नये कपड़ों और कपिला गौ आदि से उन्हें संन्तर्पित करता ? न जाने बिचारे शुद्धोदन को यह 'स्वप्न-भाख' किस भाव पड़ा होगा ? ब्राह्मणों के मुंह में उक्त कथन डालना केवल इस बात का प्रणाम हैं कि यह उस युग की रचना है, जबकि चक्रवर्ती राजा बनना ही सब से बडी बात मानी जाती थी और किसी महाज्ञानी बुद्ध का भी महत्व इसी बात में माना जाता था कि उसे किसी चक्रवर्ती नरेश के साथ-साथ तराजू के दूसरे पलडे में तोला जा सके।

इसी वर्णन के आरम्भ में एक जगह तो महामाया को अखण्ड पंचशील धारिणी कहा गया है और बाद में कहा गया है उपोसथव्रत के दिन मद्य-विरत रहनेवाली। अखण्ड पंचशील व्रती तो मद्य का सेवन करता ही नहीं, तब उपोसथ व्रत के दिन मद्य विरत रहने का मतलब क्या ? लगता है यहाँ अट्टकथाकार थोड़ा चुक गया है।

प्र. 13 : तो क्या स्वप्नों का कुछ 'फल' नहीं होता ? और क्या जो लोग स्वप्नों का 'फल' बताते हैं, यह सब कोरी बकवास ही होता है ?

उ. : आदमी जैसा अच्छा बुरा जीवन व्यतीत करता है, वैसे ही 'स्वप्न' देखता है। यह कहना कि 'स्वप्न' जीवन को प्रभावित करते है, उतना यथार्थ नहीं, जितना यह कहना कि 'जीवन' स्वप्नों को प्रभावित करता है। इसीलिये विज्ञ-जन किसी के 'स्वप्न' सुन कर भी उस के जीवन का कुछ अंदाजा लगा लेते हैं। यह भी नहीं ही कहा जा सकता कि स्वप्नों का जीवन पर प्रभाव नहीं पड़ता। सोते में आदमी को 'स्वप्न दोष' हो जाना या उस का डर के मारे चिल्ला पड़ना

स्वप्नों द्वारा जीवन के प्रभावित होने के ही प्रमाण हैं। इन के अतिरिक्त स्वप्नों को लेकर भविष्यवाणियाँ करना कोरी अटकल-पच्चियाँ हैं। ऐसा कोई – 'स्वप्नशास्त्र' नहीं, जिसके आधार पर लोगों का भविष्य जाना जा सके।

प्र. 14 : सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के जन्म को लेकर क्या और भी किसी अलौकिक घटना का उल्लेख किया गया है ?

उ. : हाँ, वहीं (निदान) अट्ठकथा में आगे चलकर लिखा है– 'बोधिसत्व के गर्भ में आने के समय से ही बोधिसत्व और उन की माता के उपद्रव के निवारण करने के लिये चारों देवपुत्र (महाराज) हाथ में खड्ग लिये पहारा देते थें। ...बोधिसत्व जिस कुक्षि में वास करते हैं, वह चैत्य के गर्भ के समान (फिर) दूसरे प्राणियों के रहने या उपभोग करने के योग्य नहीं रहती। इसीलिये (बोधिसत्व की माता) बोधिसत्व के जन्म के (एक) सप्ताह बाद ही मर कर तुषित–लोक में जन्म ग्रहण करती है।"

एक बार महामाया को 'बोधिसत्व की माता' का महत्वपूर्ण दर्जा दे दिये जाने के बाद उस के बारे में ऐसी अलौकिक बातों का रचा जाना स्वाभाविक हो जाता है। दूसरी अनेक माताओं का सन्तानोत्पत्ति के अचिर–काल बाद ही शरीरान्त हो जाना, कुछ उन की विशेषता नहीं मानी जाती। 'महामाया' का भी ऐसे ही देहान्त हो गया होगा। शेष सारा मुलम्मा इस स्वाभाविक घटना पर 'सोने का पनी' मात्र है।

प्र. 15 : ऊपर की बातचीत में एक दो बार 'बोधिसत्व' शब्द आया है। 'बोधिसत्व' शब्द का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : यह 'बोधि' तथा 'सत्व' दो शब्दों का सामासिक पद है। 'बोधि' कहते है 'बुद्धत्व' को या 'महान् ज्ञान को, और 'सत्व' कहते है 'प्राणी' को। इस हिसाब से बोधि–सत्व का मतलब हुआ, ऐसा प्राणी जिस का कभी–न–कभी बुद्ध या महाज्ञानी बनना निश्चित है, अर्थात् बुद्धत्व के लिये प्रयत्नशील प्राणी। बौद्ध–वाङ्मय में बुद्धत्व–लाभ

से पूर्व सिद्धार्थकुमार की यही संज्ञा रही है।

प्र. 16 : तो क्या सिद्धार्थ–गौतम बुद्ध का जन्म कपिल–वस्तु में ही हुआ ?

उ. : नहीं। लिखा है–"महामाया देवी पात्र में तेल की भान्ति 'बोधिसत्व' को दस मास कोख में धारण कर, गर्भ के परिपूर्ण होने पर, नैहर (पीहर) जाने की इच्छा से शुद्धोदन महाराज से बोली–"दव (अपने पिता के) कुलके देव–दह नगर को जाना चाहती हूँ।' राजाने 'अच्छा' कहा, कपिलवस्तु से देव–दह नगर तक के मार्ग को बराबर करा, और केल, पूर्णघट, ध्वज, पताका आदि से अलंकृत करा, देवी को सोने की पालकी में बैठा, एक हजार अफसर तथा बहुत भारी परिजन के साथ भेज दिया।" 'राजा' के एक बार 'महाराजा' बन जाने पर तो लगता हैं पालकी का हमेशा 'सोने' की होना अनिवार्य मान लिया गया ! चैत–वैशाख की गर्मी में 'सोने की पालकी' में बिचारी महामाया देवी परेशान नहीं हो गई होगी !

आगे लिखा है–"दोनों नगरों के बीच में, दोनों ही नगर वालों का 'लुम्बिनी' वन नामक 'एक मंगल शाल–वन' था।...उसे देख देवी के मन में शाल–वन में सैर करने की इच्छा हुई। अफसर लोग देवी को ले शाल वन में प्रविष्ट हुए। वह एक सुन्दर शाल के नीचे जा उस शाल की डाल पकड़ना चाहती थी।....उस ने हाथ फैला शाखा ली। उस समय उसे प्रसव–वेदना आरम्भ हुई। लोग (इर्द–गिर्द) कनात घेर (स्वयं) अलग हो गये। शाल–शाखा पकडे ही पकडे, खडे–ही–खडे उसे गर्भ–उत्थान हो गया। उस समय चारों शुद्धचित्त महाब्रह्म सोने का जाल हाथ में लिये हुए और जाल में बोधिसत्व को लेकर माता के सम्मुख रख कर बोले–"देवी ! सन्तुष्ट होओ, तुम्हें महाप्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ है।" स्पष्ट है कि अट्ठकथाकारने यह चारों महाब्रह्माओं द्वारा सोने के जाल में बोधिसत्व के ग्रहण करने की कथा, सिद्धार्थ कुमार के जन्म को कुछ अलौलिकता प्रदान करने के लिये ही अपनाई है। अन्यथा जहाँ से लोग कनात तान कर हट गये थे, क्या वहाँ चारों महाब्रह्माओं द्वारा सोने

का जाल लिये पहुँचना उन्हें कुछ निर्लज्जसा सिद्ध नहीं करता है! फिर कल्पना कीजिए माता के गर्भ से बाहर आते ही शिशु का सोने के जाल में दबोच लिया जाना-शिशु की दृष्टि से कितना कष्टदायक रहा होगा! अट्ठकथाकार को जैसे सर्वत्र सोना-ही-सोना देखना प्रिय था!

प्र. 17 : क्या यह जो बोधिसत्वों के बारे में (निदान) अट्ठकथा में ही लिखा है कि 'जिस प्रकार दूसरे प्राणी माता की कोख से गन्दे, मल-विलिप्त निकलते हैं वैसे बोधिसत्व नहीं निकलते। बोधिसत्व तो धर्मासन से उतरते धर्मकथिक के समान, सीढी से उतरते पुरुष के समान, दोनों हाथ और दोनों पैर पसारे खडे हुए (मनुष्य) के सपान, माता की कोख के मल से बिल्कुल अलिप्त, काशी देश के शुद्ध, निर्मल वस्त्र में रक्खे मणि-रत्न के समान चमकते हुये माता की कोख से निकलते हैं,' ठीक जँचता है ?

उ. : ऐसे कथनों को आप गैरजिम्मेदार कवियों की कल्पना मात्र समझ उपेक्षा की दृष्टी से देख सकते हैं।

प्र. 18 : और यह जो लिखा बताया जाता है कि तब चारों महाराजाओं ने उन्हें स्वर्ण जाल में लिये खडे ब्रह्माओं के हाथ से लेकर ...कोमल मृग चर्म...में ग्रहण किया। उनके हाथों से मनुष्यों ने दूकल के करण्ड में ग्रहण किया। मनुष्यों के हाथ से छूटकर (बोधिसत्व-ने) पृथ्वीपर खडे हो, पूर्व दिशा की ओर देखा। उन के लिये अनेक सहस्र चक्रवाल एक आँगन (से) हो गये। वहाँ देवता और मनुष्य गंध-माला आदि से पूजा करते हुए बोले - " महापुरुष, यहाँ आप जैसा कोई नहीं है, बडा तो कहाँ से होगा।" बोधिसत्व ने चारों दिशाये, चारों अनुदिशायें, नीचे ऊपर दसों ही दिशाओं का अवलोकन कर अपने जैसा किसी को न देख, उत्तर-दिशा (की ओर)...सात पग गमन किया। (उस समय) महाब्रह्माओं ने श्वेतच्छत्र धारण किया, सुयामों ने ताल-व्यङ्जन (पंखा) और अन्य देवताओंने राजाओं के अन्य खड्ग आदि भाण्ड हाथ में लिये सातवें पग पर पहुँच- " मैं संसार में सर्वश्रेष्ठ हूँ " पुरुष-पुंगवों की इस प्रथम वाणी का उच्चारण करते हुए, सिंह-नाद

किया । क्या यह कथन सही हो सकता है ?

उत्तर : शिशु सिद्धार्थ के बारे में यह कपोल–कल्पना इस बात की परिचायक है कि बौद्ध–मान्यताओं के इतिहास में महायान के प्रभाव से एक ऐसा समय आया था कि जब न केवल बुद्ध का "धर्म" लोकोत्तर माना जाता था, बल्कि उन का 'शरीर' भी लोकोत्तर माना जाने लगा। इस लेख में तो शिशु सिद्धार्थ को पैदा होते ही "मैं संसार में सर्वश्रेष्ठ हूँ" कहने वाला बताया है। यदि सिद्धार्थ कुमार जन्म ग्रहण करते ही "संसार में सर्वश्रेष्ठ" हो गये थे, तो फिर उन्हें गृह–त्याग कर बोधि प्राप्ति के लिये प्रयास करने की क्या आवश्यकता थी ?

शिशु सिद्धार्थ के बारे में यह कथन इस बात को भी प्रमाणित करता है कि यह उस समय की रचना है, जबकि भारतीय देव–वाद की लडी में सुयाम आदि देवता भी पिरोये जा चुके थे।

यही समय हिन्दुओं के देवताओं और बौद्धों के बोधिसत्वों की चढ़ा–उपरी का युग था। बौद्ध कथाकारों ने हिन्दुओं के देवताओं को न केवल भगवान् बुद्ध के सिर पर छत्र धारण करने और उन्हे पंखा झलने-वाले बताया, बल्कि बोधिसत्वों अथवा भावी–बुद्धों के सिर पर भी।

प्र. 19 : क्या शिशु सिद्धार्थ के जन्म के समय और भी कोई अलौकिक बात हुई कही जाती है ?

उ. : हाँ, कहा जाता है कि "जिस समय बोधिसत्व लुम्बिनी वन में उत्पन्न हुए, उसी समय राहुल–माता, छन्न (=छन्दक) अमात्य, काल–उदायी अमात्य, आजानीय गजराज, कन्थक अश्वराज, महाबोधि–वृक्ष और खजाने–भरे चार घडे उत्पन्न हुए।" यह कथन चिन्त्य ही है, क्योंकि त्रिपिटक में कहीं भी राहुल–माता और सिद्धार्थ गौतम के समवयस्क होने का उल्लेख नहीं है। लगता है कि सिद्धार्थ गौतम के जीवन से जिन जिनका निकट का सम्बन्ध रहा है, ऐसे सभी का स्मरण एक साथ कर सकने के लिये ही अट्ठकथाचार्य ने यह कल्पना स्वीकृत की होगी। इनमें छह–अमात्य, काल–उदायी अमात्य, कन्थक अश्वराज, तथा महाबोधि–वृक्ष के एक ही समय जन्म ग्रहण करने की कल्पना तो

सार्थक मालूम होती है किन्तु आजानीय गजराज और खजानें–भरे चार घडों के भी उसी समय उत्पन्न होने की कल्पना सर्वथा बेमेल जान पड़ती है।

प्र. 20 : सिद्धार्थ–कुमार के बाल्य–काल की कोई दूसरी घटना भी परम्परा–सम्मत है ?

उ. : हाँ, लिखा है कि 'उस समय शुद्धोदन महाराज के कुल–मान्य आठ समाधियोंवाले काल–देवल नामक तपस्वी. . .राजमहल में प्रवेश कर. . .आसन पर आसीनं हो बोले– "महाराज ! आप को पुत्र हुआ। मैं उसे देखना चाहता हूँ।" राजा सुअलंकृत कुमार को मँगा, तापस की वन्दना कराने को ले गया। बोधिसत्व के चरण उठ कर तापस की जटा में जा लगे। बोधिसत्व के लिये वंदनीय कोई नहीं है। 'यदि अनजाने में बोधिसत्व का सिर तापस के चरणों पर लग जाता तो तापस का सिर सात टुकडे हो जाता।' स्पष्ट ही है कि यह उल्लेख भी बोधिसत्व का सर्व–श्रेष्ठत्व सिद्ध करने के लिये ही है। किन्तु जो शिशु बोधिसत्व पैदा होते ही खडे हो कर, सात क़दम चल कर, अपने सर्वश्रेष्ठ होने की धोषणा कर सकता था, तो क्या वही बालक होने पर अपने पिता को यह नहीं कह सकता था कि मुझे तपस्वी की वंदना कराने के लिये मत ले चलो ?

प्र. 21 : कुमार का नाम–करण किस ने किया था और उनका असली नाम क्या था ?

उ. : कुमार के असली नाम के बारे में विवाद है। किसी–किसी का कहना है कि कुमार का नाम 'सिद्धार्थ' था और उनका गोत्र "गौतम" था। किसी–किसी का कहना है कि कुमार का असली नाम "गौतम" ही था, सिद्धार्थ तो एक सार्थक विशेषण मात्र था– जिससे अर्थ सिद्ध हो, वह सिद्धार्थ। निदान–कथा में कुमार के नामकरण का वर्णन इस प्रकार मिलता है –– "बोधिसत्व को पाँचवें दिन सिर से नहला, नामकरण करने के लिये राजाने राज भवन को चारों प्रकार के गंधों से लिपवा कर, खीलों सहित चार प्रकार के पुष्पों को बिखेर,

निर्जल खीर पकवा, तीनों वेद के पारंगत एक सौ आठ ब्राह्मणों को निमंत्रित कर, राज-भवन में बैठा, सुभोजन करा, महान् सत्कार कर 'बोधिसत्व' (का) भविष्य क्या है ?" (कहते) लक्षण पुछवाया । उन में लक्षण जाननेवाले (दैवज्ञ) ब्राह्मण आठ ही थे । गर्भ धारण के दिन इन्होंने ही सगुन विचारा था । उनमें से सात ने दो अंगुलियाँ उठा, दो प्रकार का भविष्य कहा—'ऐसे लक्षणोंवाला (पुरुष) यदि गृहस्थ रहे, तो चक्रवर्ती राजा होता है और प्रव्रजित होने पर बुद्ध ।" उनमें सब से कम-उमर के कौण्डिन्य (नामक) तरुण ब्राह्मण ने बोधिसत्व के सुन्दर लक्षणों को देख कर कहा- "इस के घर में रहने का कोई कारण नहीं, अवश्य ही यह महाज्ञानी बुद्ध होगा ।"

इस सारे वर्णन में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं कि राजा ने ब्राह्मणों से कुमार का 'नामकरण' करवाया इस के स्थान पर इस बात का उल्लेख है कि उस ने उन से कुमार का 'भविष्य' पूछा । ब्राह्मणों के पास भी उस का पिटा पिटाया उत्तर तैयार था— "या तो चक्रवर्ती राजा होगा, या महाज्ञानी बुद्ध ।" इस सारी कल्पना के मूल में एक तो फलित-ज्योतिष का अंधविश्वास दिखाई देता है, दूसरे चक्रवर्ती राजाओं का बड़प्पन । यह सिद्धार्थ कुमार के "बुद्ध" होने के बहुत बाद कल्पित की गई गप्प मात्र है ।

प्र. 22 : तो क्या ज्योतिषियों का ज्ञान और उन की भविष्य-वाणियाँ एकदम निर्मूल होती हैं ?

उ. : ज्योतिष दो प्रकार की मानी गई है—एक गणित-ज्योतिष दूसरी फलित-ज्योतिष । गणित-ज्योतिष वह है जिस के आधार पर सूर्य, चन्द्रमा तथा पृथ्वी की स्थिति का हिसाब लगाकर सूर्य-ग्रहण तथा चन्द्र-ग्रहण के बारे में भविष्यवाणियाँ की जाती हैं और फलित-ज्योतिष वह है, जिस के अनुसार ग्रहों की गति-विधि के हिसाब के नाम पर मनुष्यों के भविष्य के बारे में भविष्य-वाणियाँ की जाती हैं । गणित-ज्योतिष एक विद्या है, फलित-ज्योतिष ज्योतिषियों का बुद्धि चातुर्य मात्र ।

प्र. 23 : क्या सिद्धार्थ-कुमार के बाल-जीवन की कोई भी घटना नहीं, जो कुछ विश्वसनीय - सी जँचे ?

उ. : एक घटना है, सम्पूर्ण रूप से विश्वसनीय न जंचने पर भी उल्लेखनीय अवश्य है । लिखा है 'एक दिन राजा (शुद्धोदन) के यहाँ (खेत) बोने का उत्सव था। उस (उत्सव के) दिन लोग सारे नगर को देवताओंके विमान की भान्ति अलंकृत करते थे । सभी दास (गुलाम), कर्म-कर आदि नये वस्त्र पहन, गन्धमाला आदि से विभूषित हो, राजमहल में इकट्ठे होते थे । 'राजा' की खेती में एक हजार हल चलते थे । उस दिन बैलों की रूपहली रस्सी को जोत के साथ एक-दम-आठ सौ हल थे । 'राजा' का हल रत्न-सुवर्ण-जटित था । बैलों की सींगे और कोडे भी सुवर्ण-खचित थे । राजा बडे दल-बल के साथ पुत्र को भी ले वहाँ पहुँचा । खेतों के पास ही बहुत पत्तों तथा घनी छाया-वाला एक जामुन का वृक्ष था । उस के नीचे ऊपर सुवर्ण-तार-खचित वितान बँधवा कनात की दीवार से घिरवा, पहरा लगवा, कुमार का बिछौना बिछवा, सब अलंकारों से अलंकृत हो, अमात्यगण सहित राजा हल जोतने के स्थान पर गया । वहाँ उस नें सुनहले हल को पकडा और अमात्यों ने (अन्य) एक कम आठ सौ हलों को, शेष जोतनेवालों ने दूसरे हलों को । इस प्रकार हलों को पकड़ कर, वे इधर-उधर जोतने लगे । राजा उस पार से इस पार, इस पार से उस पार, आता जाता था । वहाँ बडी भीड़ थी, तमाशा देखने के लिये कनात के भीतर से धाइयाँ बाहर चली आई ।"

इस घटना का महत्व दो बातों में है और इस वर्णन से तीन बातों में से एक सिद्ध होती है कि या तो सिद्धर्थ कुमार का पिता 'राजा' न था, या उस समय के 'राजा' भी समय, समय पर हल चलाते थे, या वह उस तरह का राजा था, जो उत्सव के दिन ही सही अपने अमात्यों तथा किसानों के साथ हल की मूठ पकड़ इधर से उधर और उधर से इधर आ जा सकता था । इस वर्णन से उस समय दास प्रथा का होना भी सिद्ध होता है ।

प्र. 24 : इस में ऐसी कोन–सी बात है, जिस से इसे सम्पूर्ण रूप से 'विश्वसनीय' नहीं माना गय है ?

उ. : इसी वर्णन का आगे का हिस्सा इस प्रकार है–"बोधिसत्व इधर–उधर किसी को न देख, जल्दी से उठ, आसन मार, श्वास–प्रश्वास को रोक प्रथम–ध्यान में स्थिर हो गये। धाइयों ने खाद्य–भोज्य में कुछ देर कर दी। सभी वृक्षों की छाया घूम गई किन्तु (बोधि–सत्ववाले) वृक्ष की छाया गोल ही खड़ी रही। "आर्य–पुत्र अकेले है" ख्याल कर जल्दी से कनात उठाकर, घुसकर, (धाइयों ने) बोधिसत्व को बिछौने पर आसन मारे बैठा देखा। उस चमत्कार को देख उन्होंने जाकर राजा से कहा–"देव! कुमार इस तरह बैठा है। सभी वृक्षों की छाया लम्बी हो गई है लेकिन जम्बु–वृक्ष की छाया गोलाकार ही खड़ी है।" राजा ने वेग से आ इस चमत्कार को देख, पुत्र की वन्दना की।" यह सारा वर्णन काफी अस्वाभाविक सा जंचता है। इस में कहीं भी सिद्धार्थ कुमार की आयु का उल्लेख नहीं है।

यदि कुमार बहुत ही छोटा रहा होगा, तो उसे धाइयों के भरोसे भी खेत जोतने का उत्सव देखने के लिये नहीं ले जाया गया होगा, यदि उत्सव देखने के योग्य आयु रही होगी, तो उस ने भी बड़ी रुची से तमाशा देखा होगा। किसी भी बालक का तमाशा देखने के स्थान पर मौका लगते ही, 'प्रथम–ध्यान' लगा कर बैठना, अस्वाभाविक है। यदि हम यह मान ले कि यही बोधिसत्व की विशेषता थी, तो हमें बुद्ध–पूर्व काल में भी 'प्रथम–ध्यान' का अस्तित्व मानना पड़ेगा जिसकी हमारे पास कोई भी ऐतिहासिक साक्षी नहीं है। या फिर यह मानना पडेगा कि यह वर्णन 'प्रथमध्यान' वाले योगाभ्यास की प्रथा के आरम्भ होने के बाद का है। यहाँ कहा गया है कि 'श्वास–प्रश्वास को रोक कर प्रथम ध्यान में स्थित हो गये' प्राणायाम में भले श्वास प्रश्वास को रोकने का महत्व माना जाता हो, प्रथम–ध्यानारूढ़ होने के लिये श्वास–प्रश्वास रोकने की कतई आवश्यकता नहीं। फिर आगे जो यह लिखा है कि 'सभी वृक्षों की छाया लम्बी हो जाने पर भी जम्बु वृक्ष की छाया गोलाकार ही

रही ' पूर्ण रूप से अविश्वसनीय है । यह तो संभव है कि धाइयों को भ्रमवश ऐसा प्रतीत हुआ हो और यह भी संभव हैं कि अन्य वृक्षों की अपेक्षा जम्बु-वृक्ष की स्थिति विशेष होने के कारण उस की छाया अभी भी कुमार के सिर पर बनी रही हो । लेकिन उस समय कोई ' चमत्कार ' घटा हो, यह बात नही मानी जा सकती, क्योंकि कभी कोई ' चमत्कार ' घटता ही नहीं ।

प्र. 25 : क्या " चमत्कारों " का दिखाया जाना सर्वथा असंभव है ?

उ. : समर्थ जन ऐसी बहुत-सी ' हथ-फेरियाँ ' दिखा सकते हैं, जिन्हें सामान्य जन ' चमत्कार ' समझ लें, किन्तु प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कोई भी घटना घट ही नहीं सकती ।

प्र. 26 : तो क्या जिन " चमत्कारों " की बात हम सुनते पढ़ते चले आये हैं वे सब झूठ के ही पुलिंदे हैं ?

उत्तर : नहीं । ऐसी अनेक बातें हो सकती हैं कि जो या तो किसी के ' हाथ की सफाई ' मात्र हों और उन्हें लोगों ने ' चमत्कार ' या ' करिश्मा ' मान लिया हो, या वे किसी अज्ञात प्राकृतिक नियम के अनुसार घटी हों और उन्हें प्राकृतिक नियम के विरुद्ध घटी घटनाएँ केवल इसलिये मान लिया गया हो कि उस समय वह प्राकृतिक नियम अज्ञात रहे हो । यह निश्चित बात है कि प्रकृति की कोई भी घटना प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करके नहीं घटती ।

प्र. 27 : क्या सिद्धार्थ कुमार हमेशा बालक ही बने रहे । उन्होंने कभी तरुणाई में प्रवेश किया ही नहीं ?

उ. : ऐसी बात नहीं । जातक की (निदान) अट्ठकथा में ही लिखा है कि " क्रमशः बोधिसत्व सोलह वर्ष के हुए । राजा ने बोधिसत्व के वास्ते तीनों ऋतुओं के लिये तीन महल बनवाये । उनमें एक नौ तल, दूसरा सात तल, तीसरा पांच तल का था । (वहाँ) ४४ हजार नाटय करनेवाली स्त्रियों को नियुक्त किया । बोधिसत्व अप्सराओं से घिरे देवताओं की भान्ति, अलंकृत नटियों से घिरे हुए, स्त्रियों द्वारा

बजाये गये वाद्यों से सेवित, महासम्पत्ति का उपभोग करते हुए, ऋतुओं के अनुकूल प्रासादों में विहार करते थे। राहुल–माता देवी इनकी पटरानी थी। एक सिद्धार्थ–कुमार का मनोरंजन करने के लिये ४४ हजार नाट्य करनेवाली स्त्रियां !

प्र. 28 : तब क्या हुआ ?

उ. : "इस प्रकार महासम्पत्ति भोग करते हुए जाति–बिरादरी के लोगों में (बोधिसत्व के बारे में) चर्चा छिडी— " सिद्धार्थ भोगों में ही लिप्त हो रहे हैं, किसी कला को नहीं सीख रहे हैं, युद्ध आने पर क्या करेंगे ? " राजा ने बोधिसत्व को बुला कर कहा– ' तात ! तेरी जाति-वाले कहते हैं कि सिद्धार्थ किसी शिल्पकला को न सीख कर सिर्फ भोगों में ही लिप्त हो रहे हैं। तुम इस विषय में क्या उचित समझते हो ?'

सिद्धार्थ का उत्तर था— 'देव ! मुझे शिल्प सीखनें को नहीं है। नगर में मेरा शिल्प देखने के लिए डिंढोरा पिटवा दें। आज से सातवें दिन जातिवालों को मैं अपना शिल्प दिखाऊँगा।' राजा ने वैसा ही किया। बोधिसत्व ने अ–क्षणवेध, बाल–वेध करनेवाले धनुर्धारियों को एकत्रित कर, लोगों के मध्य में अन्य धनुर्धारियों से (भी) विशेष बारह प्रकार के शिल्प (कलायें) जाति बिरादरीवालों को दिखलाये।. . .तब उन के जातिवाले सन्तुष्ट हुए। इस वर्णन में कुछ पूर्वापर हो गया लगता है। पुराना स्वयंवर का अवसर ही अपनी नानाविध परीक्षा देने का समय होता था। हो सकता है कि क्षत्रिय कुमार सिद्धार्थ ने स्वयंवर के समय अपनी अद्भुत सामर्थ्य की परीक्षा दी हो। किन्तु इस वर्णन में इस से पूर्व सोलह वर्ष की अवस्था में ही बोधिसत्व को महासम्पत्ति भोग करते हुए दिखाया गया है। फिर यह बात भी नहीं जँचती कि राजा स्वयं सिद्धार्थकुमार के लिये तीन तीन महल बनवाये, स्वयं ४४ हजार नर्तकियों को नियुक्त करे, स्वयं कुमार के लिये सभी प्रकार के ऐशो–आराम के सामान उपस्थित करे और फिर स्वयं कुमार से आकर पूछे— "तात ! तेरी जातिवाले कहते हैं कि सिद्धार्थ किसी शिल्प-कला को न

सीख कर सिर्फ भोगों में ही लिप्त हो रहे हैं। तुम इस विषय में क्या उचित समझते हो ?"

या तो सिद्धार्थ कुमार भोगों में ऐसे लिप्त न रहे होंगे, जैसा इस अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन में दिखाया गया है और या उन्हे सभी धनुर्धारियों से भी बढ़ कर बारह प्रकार के शिल्पों का ज्ञान न रहा होगा ? आखिर हर विद्या सीखने से आती है और हर शिल्प अभ्यास करने से सिद्ध होता है।

प्र. 29 : तब सिद्धार्थ–कुमार को वैराग्य किस प्रकार हुआ और उन्हों ने गृह–त्याग क्यों किया ?

उ. : सिद्धार्थकुमार के गृह–त्याग का जो मूल कारण बताया जाता है उस का वर्णन किसी भी महाकाव्य का विषय बनने की सामर्थ्य रखते हुए भी काफी अस्वाभाविक–सा है। लिखा है––"एक दिन बोधिसत्व ने बगीचा देखने की इच्छा से सारथी को रथ जोतने को कहा। उसने 'अच्छा' कह महार्घ उत्तम रथ को सब अलंकारों से अलंकृत कर, श्वेत कमल पत्र के रंग के चार मङ्गल सिन्धु–देशीय (घोडों) को जोत, बोधिसत्व को सूचना दी। बोधिसत्व देव–विमान सदृश रथ पर चढ़ कर बगीचे की ओर चले। देवताओं ने (सोचा) –सिद्धार्थ कुमार का बुद्धत्व प्राप्ति का समय समीप है, इसे पूर्व–शकुन दिखलाने चाहिएँ, और एक देव–पुत्र को जटा से जर्जरित, टूटे दाँत, पके–केस, टेढे झूके हुए शरीर, हाथ में लकडी लिये, काँपते हुए दिखलाया– उसे सारथी और बोधिसत्व ही देखते थे।" मनुष्य ने पहले तो काल्पनिक देवताओं की रचना की और बाद में उन्हें अनन्त सामर्थ्य से विभूषित कर दिया। इस वर्णन के अनुसार भी देवताओं में इतनी सामर्थ्य थी कि वह सारथी और बोधिसत्व के अतिरिक्त शेष सभी को एक विशेष विषय में अन्धा बना सकते थे।

प्र. 30 : तब आगे क्या हुआ ?

उ. : तब बोधिसत्व ने सारथी से पूछा––'सौम्य ! यह कौन

पुरुष है ? इस के केश भी औरों के समान नहीं हैं !" ..... सारथी का उत्तर था 'अहो ! धिक्कार है जन्म को, जहाँ जन्म लेनेवालों को (ऐसा) बुढापा .... है !" इत्यादि कह, वहां से लौट महल में चले गये ।....

फिर एक दिन बोधिसत्व उसी प्रकार बगीचे जाते हुए देवताओं द्वारा रचित रोगी पुरुष को देख, पहिले की भाँति पूछ शोकाकुल हृदय से महल में आये ।

फिर एक दिन बोधिसत्व उसी प्रकार उद्यान जाते हुए, देवताओं द्वारा रचित मृतक को देख, पहिले की भाँति पूछ, उद्विग्न–हृदय महल में लौट आये ।

फिर एक दिन बोधिसत्व ने उद्यान जाते हुये देवताओं द्वारा रचित भली प्रकार ढंके एक प्रव्रजित को देख कर पूछा–– 'सौम्य ! यह कौन हैं ?'

सारथी ने देवताओं की प्रेरणा––'देव ! यह प्रव्रजित हैं' कह संन्यासियों के गुण वर्णन किये । बोधिसत्व को प्रव्रज्या में रुचि हुई । उस दिन वह उद्यान को गये ।

इस वर्णन का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये इतना ही पर्य्याप्त है कि उस वृद्ध–पुरुष, उस रोगी–पुरुष, उस मृत–व्यक्ति तथा उस संन्यासी की रचना देवताओं ने की थी । जो देवता स्वयं कल्पनाशील मनुष्य के मानस–पुत्र मात्र हैं, वे किसी की भी रचना कैसे कर सकते हैं ? अथवा वे किसी को कुछ भी दिखा ही कैसे सकते हैं ? कि यह बात ही किसी हद तक समझ में आती है कि चिन्तनशील सिद्धार्थकुमार के मन में किसी वृद्ध, रोगी, मृत तथा संन्यासी को देखकर कोई एक विशिष्ट जिज्ञासा पैदा हो गई हो, किन्तु क्योंकि पूर्व आचार्य–परम्परा इस विषय में जो एक मत नहीं है कि यह चारों पूर्व–निमित्त (शकुन) एक ही दिन दिखाई दिये अथवा चार भिन्न–भिन्न दिनों में दिखाई दिये, इसलिये यह सारी कथा ही मनोकल्पित लगती है । यदि इस में कुछ भी

सार है तो इतना ही कि यह प्रत्येक आदमी के जीवन की विशिष्ट अवस्थाओं की ओर उस का ध्यान आकर्षित करती है। किन्तु कौन है जो जन्म ग्रहण लेने के अनन्तर बुढ़ापे, रोग और मत्यु से अपरिचित रहता हो।

प्र. 31 : क्या उस संन्यासी को देखकर सिध्दार्थ ने तुरन्त गृहत्याग करने का संकल्प कर लिया ?

उ. : नहीं। उद्यान–भ्रमण के अनन्तर बोधिसत्व बडे ही ठाट–बाट के साथ अपने महल में जा, सुन्दर पलग पर लेट रहे। उसी समय सभी अलंकारों से विभूषित, नृत्य–गीतादि में दक्ष, देवकन्या समान अतीव सुन्दर स्त्रियों ने अनेक प्रकार के वाद्यों को लेकर, कुमार को खुश करने के लिये, गीत और वाद्य आरम्भ किया। बोधिसत्व (रागादि) मलों से विरक्त चित्त होने के कारण, नृत्य आदि में रत न हो, थोड़ी ही देर में सो गये।

प्र. 32 : क्या संगीत सुनते सुनते नींद आ जाना किसी के चित्त के राग–मुक्त होने का प्रमाण है ?

उ. : नहीं, संगीत के प्रभाव से भी किसी को नींद आ ही सकती है।

प्र 33 : जब सिद्धार्थ–कुमार को नींद आ गई, तब भी क्या वे नाचने–गानेवाली स्त्रियाँ नाचती गातीं रहीं ?

उ. : नहीं, उन स्त्रियों ने भी सोचा–– "जिस के लिये हम नाच आदि करती हैं, वह ही सो गया, अब, (हम) क्यों तकलीफ करें" (इस लिये वह भी) वाद्यों को साथ लिये ही सो गई। उस समय सुगन्धित तेल पूर्ण प्रदीप जल रहा था। बोधिसत्व ने जाग कर...उन स्त्रियों को देखा। (उनमें) किन्हीं के मुंह से कफ निकल रहा था, किन्हीं का शरीर लार से भीग गया था, कोई दाँत कटकटा रही थीं, कोई बर्रा रही थीं, किन्हीं के मुंह खुले हुए थे, किन्हीं के वस्त्र हटे होने से अति घृणोत्पादक गुह्य स्थान दिखाई दे रहे थे। उन स्त्रियों के इन विकारों को देख (वे) और भी दृढ़ हो कामनाओं से विरक्त हुए। उन्हें वह सु–अलंकृत इन्द्र–

भवन सदृश महाभवन सड़ती हुई नाना प्रकार की लाशों से पूर्ण कच्चे-श्मशान की भान्ति मालूम होता था, तीनों ही संसार जलते हुए घर के समान दिखाई दे रहे थे। उन के मुह से 'हा कष्ट ! हा शोक ! ' यह आह निकल रही थी। उस समय प्रव्रज्या के लिये उन का चित्त अत्यन्त आतुर हो उठा।

स्पष्ट ही उक्त वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण है। जब राजा शुद्धोदन ने सिद्धार्थ कुमार का मनोरञ्जन करने के लिये ४४००० नाचने गाने-वालीं स्त्रियाँ नियुक्त कर रखी थीं और जब सिद्धार्थकुयार का विवाह भी परम्परा के मनुसार उन की समान-आयु की ही यशोधरा नाम की कन्या के साथ सोलह वर्ष की ही आयु में हो गया था, तो क्या महाभि-निष्क्रमण के समय तक अर्थात् २९ वर्ष की आयु तक के १३ वर्ष के दीर्घ-काल में सिद्धार्थकुमार को एक ही रात ऐसा अनुभव हुआ होगा को उन्हें 'तीनों ही संसार जलते हुए घर की तरह' दिखाई देने लगे। स्पष्ट ही है कि इस घणोत्पादक चित्रण का उद्देश्य पाठकों के मन में तीव्रवैराग्य की भावना पदा करना ही है। किन्तु कामदेव के वाणों के सामने इस तरह के वर्णनों की क्या बात है ? वे इन्हें निरायास छेदते चले जाते हैं।

प्र. 34 : तो क्या सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण का कारण यह बुढे-रोगी, मृत तथा संन्यासी का दर्शन और इन गाना-बजाना करनेवाली नर्तकियों के जिगुप्सित-रूप का दर्शन ही रहा है ?

उ. : हाँ, सिद्धार्थकुमार के सैकडों वर्षों बाद अस्तित्व में आई अट्ठकथाओं की साहित्यिक परम्परा की तो यही साक्षी है, किन्तु कुछ दूसरा कारण भी हो ही सकता है। दिवंगत श्री धम्मानन्द कोसम्बी तथा नि. प्रा. डा. भीमराव अम्बेडकर ने एक दूसरे ही कारण का अनुमान लगाया हैं, जिस का उल्लेख उन की पुस्तक "भगवान् बुद्ध और उनका धर्म" में है।

प्र. 35 : दोनों कारणों में से महाभिनिष्क्रमण का कौन-सा कारण अथवा कौन सी व्याख्या अधिक जँचती है ?

उ. : तटस्थ दृष्टि से देखा जाय तो डा. भीमराव अम्बेडकर की "भगवान् बुद्ध और उन का धर्म" नाम की पुस्तक में दी गई व्याख्या ही अधिक स्वाभाविक तथा युक्ति-युक्त जँचती है ।

प्र. 36 : गृह-त्याग का निश्चय कर चुकने पर सिद्धार्थकुमार ने आगे कौनसा कदम उठाया ?

उ. : उन्होंने पलंग से उतर द्वार के पास जाकर पूछा-'यहाँ कौन है ?' ड्योडी में सिर रख कर सोये छन्न (छन्दक) का प्रत्युत्तर सुनाई दिया- "आर्य पुत्र ! मैं छन्दक हूँ ।"

"मैं आज अभिनिष्क्रमण करना चाहता हूँ, मेरे लिये घोड़ा तैयार करो ।"

"अच्छा देव !" कह उसने घोड़े का सामान ले, घोड़सार में सुगंधित तेल के जलते प्रदीपों (के प्रकाश) में, बेल बूटेवाले रेशमी चँदवे के नीचे, सुन्दर स्थान पर खड़े अश्वराज कंथक को देखा । यह सोच कि आज मुझे इसे ही सजाना है, उस ने कंथक को सज्जित किया ।

बोधिसत्व ने छन्दक को तो उधर भेजा, (और स्वयं) पुत्र को देखना चाहा । फिर अपने स्थान से राहुल-माता के वास-स्थान की ओर जा, शयनागार का द्वार खोला । उस समय घर के भीतर सुगंधित तेल-प्रदीप जल रहे थे । राहुल-माता, बेला-चमेली आदि की पुष्पशैय्या पर पुत्र के मस्तक पर हाथ रखे सो रही थी । बोधिसत्व ने देहली में पैर रख खड़े खड़े देखकर सोचा- "यदि मैं देवी के हाथ को हटा कर, अपने पुत्र को ग्रहण करूँगा, तो देवी जग जायगी और मेरे गमन में विघ्न होगा । बुद्ध (होने के पश्चात्) आ कर ही पुत्र को देखूंगा" । इसलिये महल से उत्तर आये ।

यह वर्णन कितना स्वाभाविक है ! यदि बोधिसत्व को सारा सार जलता हुआ घर मालूम देता, तो क्या वह गृह-त्याग करते समय बुद्ध होने के अनन्तर पुनः राहुल को देखने की कामना लिये हुए अभिनिष्क्रमण

करते ? बोधिसत्व ने गृह त्याग किया था, संसार–त्याग नहीं। संसार त्याग तो जीतेजी कोई कर ही नहीं सकता।

प्र. 37 : तब सिद्धार्थकुमार अपने महल से बाहर जाने में कैसे सफल हुए ? क्योंकि परम्परा के अनुसार उन के चारों गिर्द राजा शुद्धोदन ने कड़ा पहरा बैठा रखा था।

उ. : बोधिसत्व ने महल से उतर कर घोड़े के पास जा कर कहा– "तात ! कन्थक ! आज तू मुझे एक रात तार दे, मैं तेरी सहायता से बुद्ध होकर देवताओं सहित सारे लोक को तारूँगा !" तदनन्तर सिद्धार्थ कुमार अश्वपीठ पर आरूढ हो छन्दक को उसकी पूंछ पकड़ा आधी रात के समय महाद्वार के समीप पहुँचे। द्वार में रहनेवाले 'देवता' ने द्वार खोल दिया।

प्र. 38 : यह 'देवता' क्या ?

उ. : न केवल बौद्ध वाङमय में, बल्कि संसार की सभी धार्मिक परम्पराओं में, जब और जहाँ किसी कहानीकार या इतिहास–लेखक को कोई सामान्य रूपसे अति कठिन या असम्भव समझा जानेवाला कार्य कराना होता है, वह यह कार्य किसी 'देवता' से करा लेता है। जिन पाठकों या श्रोताओं का यह विश्वास बना रहता है कि 'देवता' कुछ भी कर सकते हैं, उनका आसानी से समाधान हो जाता है।

प्र. 39 : यहाँ 'देवता' द्वारा दरवाजा खुलवाने की क्या जरूरत थी ?

उ. : यह जरूरत इसलिये आ पड़ी क्योंकि अट्ठकथाकार ने पहले यह लिखा कि 'राजा ने यह सोचा कि कहीं बोधिसत्व जिस किसी समय नगर–द्वार को खोल कर (बाहर) न निकल जायें, दर्वाजे के दोनों कपाटों में से प्रत्येक को एक एक हजार मनुष्यों द्वारा खुलने लायक बनवाया था।' अब उस अर्धरात्रि को यदि दो हजार आदमियों द्वारा दरवाजा खुलवाया जाता, तब तो सारा नगर ही जाग उठता। आसान समाधान है कि 'देवता' ने दरवाजा खोल दिया।

प्र. 40 : क्या यह एक झूठ को ढकने के लिये दूसरा झूठ बोलने जैसी बात नहीं है ?

उ. : है तो यह वैसी ही बात, लेकिन जब किसी युग ने या किसी समाज ने 'देवता' के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया हो, तो फिर किसी को भी ऐसा झूठ खटकता नहीं।

प्र. 41 : तो क्या 'देवता' होते ही नहीं ?

उ. : हमारे पास किसी भी ऐसी योनि के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं, जिस का अस्तित्व इन्द्रिय–बोध से परे की बात माना जाता हो। जिस के पास हो, वे सिद्ध करें।

प्र. 42 : तो क्या सभी देवी–देवता केवल मनुष्य की मानस संतति हैं ?

उ. : हाँ, इस से अधिक और कुछ नहीं।

प्र. 43 : महामङ्गल–सूत्र में यह जो लिखा है कि भगवान् ने कहा कि सारे जेतवन को प्रकाशित करता हुआ एक 'देवता' मेरे सामने आ उपस्थित हुआ, क्या भगवान का यह कथन भी अयथार्थ है ?

उ. : "भगवान" का कथन अयथार्थ नहीं होता, जिस का कथन अयथार्थ हो, उसे हम "भगवान" नहीं कहते। महामङ्गल–सूत्र में जिस 'देवता' का उल्लेख है उसे हम कोई 'सत्पुरुष' समझ सकते हैं। आजकल भी हम किसी भले आदमी की अधिक प्रशंसा करना चाहते हैं, तो कहते ही हैं कि वह आदमी नहीं 'देवता' है। यदि यह 'देवता' मानवयोनि से भिन्न कोई प्राणी होता, तो महामङ्गल–सूत्र में जो उपदेश दिया गया है, उस में कोई तो ऐसी बात होती जो 'मानव' से भिन्न योनी के किन्हीं प्राणियों के काम की होती। भगवान् बुद्ध ने महामङ्गल-सूत्र द्वारा जिन कल्याणकारी बातों का उपदेश दिया है, वे हैं—

(१) मूर्खों की संगति न करा, (२) पण्डितों की संगति करना, (३) आदरणीय व्यक्तियों का आदर करना, (४) अनुकूल देश में निवास, (५) पूर्व में अच्छे कर्मों का किया रहना, (६) चित्त की

स्थिरता, (७) बहुश्रुत होना, (८) विद्वान् होना, (९) संयमी होना, (१०) अच्छी वाणी युक्त होना, (११) माता पिता की सेवा करना, (१२) स्त्री-पुत्र का पालन-पोषण करना, (१३) जीविका का साधन सुलझा हुआ होना, (१४) दान देना, (१५) धर्माचरण करना, (१६) रिश्तेदारों की देख-भाल रखना, (१७) निर्दोष कर्म, (१८) पाप-कर्मो से दूर रहना, (१९) नशीले पदार्थों का सेवन न करना, (२०) धर्म में अप्रमादी रहना, (२१) गौरव का भाव होना, (२२) मन की शान्ति, (२३) संतोषी होना, (२४) कृतज्ञ होना, (२५) समय-समय पर धर्म-श्रवण करना, (२६) क्षमाशील होना, (२७) सुवच होना, (२८) श्रमणों (साधुओं) का दर्शन, (२९) समय-समय पर धर्म-चर्चा करना, (३०) तपस्वी होना, (३१) ब्रह्मचारी होना. (३२) चार आर्य-सत्यों का दर्शन, (३३) निर्वाण का साक्षत् करना, (३४) निन्दा, प्रशंसा, लाभ, हानि आदि आठ लोक-धर्मों के सम्पर्क में आने पर चित्त का अस्थिर न होना और निर्मल बने रहना।

अब इन में कौन सा ऐसा उपदेश है, जो 'आदमियों के लिये नहीं दिया गया' कहा जा सके ?

प्र. 44 : तो क्या बौद्ध वाङ्मय का 'मार' भी और दूसरी परम्पराओं का 'शैतान' भी आदमी की कल्पना मात्र ही है ?

उ. : हाँ, जैसे किसी अच्छे काम में सहायक होने के लिये देवी-देवताओं की कल्पना की गई है, वैसे ही अच्छे कामों में बाधा डालने के लिये 'मार' की कल्पना की गई है। सिद्धार्थकुमार के अभिनिष्क्रमण के प्रकरण में ही लिखा है—"उसी समय बोधिसत्व को (वापस) लौटाने के विचार से आकाश में खड़े 'मार' ने कहा—

"मार्ष ! मत निकलो। आज से सातवें दिन तुम्हारे लिये चक्र-रत्न प्रादूर्भूत होगा। दो हजार छोटे द्वीपों सहित चारों महाद्वीपों पर राज्य करोगे। लौटो मार्ष !"

"तुम कौन हो ?"

"मैं वशवर्ती (मार) हूँ।"

"मार ! मैं भी अपने चक्र-रत्न के प्रादुर्भाव को जानता हूँ। लेकिन मुझे राज्य से कोई काम नहीं। मैं तो साहस्रिक लोकधातुओं को उन्नादित कर बुद्ध बनूंगा।"

" आज से जब कभी कामना संम्बन्धी वितर्क, द्रोह संबंधी वितर्क या हिंसा सम्बन्धी वितर्क तुम्हारे चित्त में पैदा होगा, उस समय मैं तुम्हें समझूंगा !" कह मार ने मौका ताकते, छाया की भाँति जरा भी अलग न होते हुए, पीछा करना शुरू किया।

इस वर्णन से भी स्पष्ट है कि 'मार' चित्त की कलुष-वृत्तियों की मनघड़न्त साकार मूर्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं।

प्र. 45 : तो क्या सभी धार्मिक परम्पराओं के साहित्य में देवी-देवताओं तथा मारों का भिन्न-भिन्न नामों से जो उल्लेख हुआ है, वह सर्वथा अग्राह्य है ?

उ. : हाँ, देवी-देवताओं के वे सभी स्वरूप उतने ही काल्पनिक हैं जितने काल्पनिक वर्तमानकालीन चल-चित्रों के पात्र। उन स्वरूपों को हमें किन्हीं अज्ञात नाम कलाकारों की कलाकृतियाँ समझ कर ही ग्रहण करना चाहियें, न कि ऐतिहासिक अस्तित्व। उन का सत्य उन कथाओं द्वारा दिये गये भले या बुरे सन्देश में निहित रहता है, न कि उन काल्पनिक पात्रों की ऐतिहासिक सचाई में। उन के ऐतिहासिक अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए भी उन के साहित्यिक महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्र. 46 : महल से निकल कर सिद्धार्थकुमार कहाँ गये ?

उ. : हाथ में आये चक्रवर्ती राज्य को थूक की भान्ति फेक कर कामनारहित बोधिसत्व बड़े सम्मानपूर्वक नगर से निकले। (लेकिन उस) आषाढ़ की पूर्णिमा को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में फिर नगर देखने की इच्छा हुई। वह नगर की ओर मुंह कर, नगर देखते हुए गन्तव्य मार्ग की ओर चल दिये। यह सिद्धार्थकुमार का अभिनिष्क्रमण अट्ठकथाकार की दृष्टि

में उचित तौर पर ही अत्यन्त महत्वपूर्ण था। उस ने इस का महत्व बड़ी ही सजीव भाषा में घोषित किया है : "उस समय देवताओं ने उनके सम्मुख साठ हजार, पीछे साठ हजार, दाहिने तरफ साठ हजार और बाई तरफ भी साठ हजार मशाल धारण किये। दूसरे देवता, नाग, सुपर्ण (गरुड) आदि दिव्य गन्ध, माला, चूर्ण, धूप से पूजा करते चल रहे थे। घने मेघों की वृष्टि के समय (बरसती) धाराओं की भाँति पारिजातपुष्प, मन्दार पुष्प–वृष्टि से आकाश आच्छादित हो गया। उस समय दिव्य–संगीत हो रहे थे। चारों ओर साठ प्रकार के अड़सठ लाख बाजे बज रहे थे। समुद्र के उदर में मेघ--गर्जनकाल की भाँति, युगन्धर के कुक्षि में सागर–निर्घोष काल की भाँति (शब्द) हो रहा था। इन श्री और सौभाग्य के साथ जाते हुए बोधिसत्व एक ही रात में तीन राज्यों को पार कर तीस योजन पार अनोमा नामक नदी के तट पर जा पहुँचे।

इस सारे वर्णन को हम इसी दृष्टि से सत्य मान सकते हैं कि यह अट्ठकथाकार के साहित्यिक मन की उडान मात्र है। अन्यथा यदि ऐतिहासिक सचाई होती तो सिद्धार्थकुमार का अभिनिष्कमण ही न हुआ होता। क्या २४ हजार मशालों का प्रकाश रहने पर और अड़सठ लाख बाजे बजते रहने पर भी कपिलवस्तु के नागरिक सोते ही रहते? वे कपिलवस्तु के नागरिक थे न कि श्रीलंका के कुम्भकरण !

एक योजन आठ मील का माना जाता है। यह एक रात में तीस योजन अर्थात् २४० मील चले आने की बात भी चिन्त्य है। संभव है अनोमा नदी गोरखपुर जिले की औमी नदी ही हो। तब तो कपिलवस्तु से उस की यथार्थ दूरी मापी जा सकती है।

प्र. 47 : नदी के तट पर पहुँच कर सिद्धार्थकुमार ने क्या किया ?

उ. : अनोमा नदी के तट पर पहुँच कर सिद्धार्थकुमार ने छन्दक से पूछा–

"यह कौन–सी नदी है ?"

"देव ! अनोमा है ।"

"हमारी प्रव्रज्या भी अनोमा होगी," कह, एडी से रगड़ कर घोडे को इशारा किया । घोड़ा छलांग मार कर आठ ऋषभ चौड़ी नदी के दूसरे तट पर जा खड़ा हुआ । बोधिसत्व ने घोड़े की पीठ से उत्तर... छन्दक को कहा——

"सौम्य ! छन्दक ! तू मेरे आभूषणों तथा कन्थक को लेकर जा, मैं प्रव्रजित होऊँगा ।"

"देव ! मैं भी प्रव्रजित होऊँगा ।"

बोधिसत्व ने उसे तीन बार मना किया और अन्त में आभरण तथा कन्थक को उसे सौंपा । अपने केशो को श्रमण के अयोग्य जान अपनी ही तलवार से उन्हें काट डाला । केश सिर्फ दो अंगुल के रह कर, दाहिनी ओर से घूम सिर में लिपट गये । जिन्दगी भर उन का वही परिमाण रहा ।

सारा वर्णन कितना मानवी है । काश ! इस में यह अंतिम पंक्ति न होती कि बोधिसत्व के वह कटे केश जिन्दगी भर उसी परिमाण के रहे । लिखा है—मूंछ (दाढी) भी उस के अनुसार ही रही । फिर सिर-दाढी मुड़ाने का काम नहीं पड़ा । स्पष्ट ही यह कथन बौद्ध चिन्तन-परम्परा की उस स्थिति का द्योतक है, जब भगवान् बुद्ध का धर्म ही नहीं, उनका शरीर भी 'लोकोत्तर' माना जाने लगा था ।

प्र. 48 : सिद्धार्थ गौतम तो राजकुमार थे । उन्होंने अपने वस्त्र और आभूषण तो छन्दक को दे दिये । तब स्वयं क्या धारण किया ?

उ. : (निदान) अट्ठकथा में लिखा है——फिर बोधिसत्व ने सोचा——'यह काशी के बने वस्त्र भिक्षु के योग्य नहीं हैं।' तब घटिकार महाब्रह्मा ने मित्र-भाव से सोचा——आज मेरे मित्र ने महाभिनिष्क्रमण किया है । उस के लिये श्रमण (भिक्षु) की आवश्यक चीजें ले चलूं ।

उसी ने (१) भिक्षा-पात्र, (२) तीन चीवर, (५) सूई-धागा,

(६) छुरा, (७) काय-बंधन (पट्टी), (८) जल छानने का कपडा-कुल आठ चीजें बोधिसत्व को दान दीं।

इस लेख में महाब्रह्मा को इन चीजों का दाता बनाया गया है। पालि में जहाँ इन चीजों की गिनती की गई है, वहाँ एक चीज है 'वासी'। आज कल भी भिक्षु बनते समय प्रव्रजित को आठ चीजें ही दी जाती हैं। इन आठ चीजों में एक तो उस्तरा या छुरा रहता ही है। 'वासी' शब्द का अर्थ छुरा नहीं होता। 'उस्तरे' को पालि में 'खुर' कहा जाता है। ऐसा लगता है किसी समय भिक्षु को 'वासी' अर्थात् जंगल में रहते समय नाना दृष्टि से उपयोगी कुल्हाड़ी जैसी कोई चीज दी जाती रही होगी। बाद में शहरों में रहनेवाले भिक्षुओं को 'वासी' की अपेक्षा 'खुर' अधिक उपयोगी जँचा। तब 'वासी' को ही 'खुर' का पर्याय मान लिया गया और उस का अर्थ 'उस्तरा' किया जाने लगा। कम-से-कम महाब्रह्मा ने सिद्धार्थ गौतम को 'उस्तरा' नहीं ही दिया होगा। पहले तो महाब्रह्मा के पास ही 'उस्तरा' कहाँ से आया होगा? दूसरे ऊपर लिखा ही है कि "सिद्धार्थ गौतम ने जब अपने केश काट डाले तो 'केश सिर्फ दो अंगूल के होकर, दाहिने ओर से घूम, सिर में लिपट गये। जिन्दगी भर उनका यही परिमाण रहा। मूंछ (दाढी) भी उस के अनुसार ही रही। फिर सिर-दाढी मुंडाने का काम नहीं रहा।" जब फिर सिर-दाढी मुंडाने का काम ही नहीं रहा, तो उस्तरा किस लिये?

प्र. 49 : तब आगे क्या हुआ?

उ. : आगे की कथा संक्षिप्त है। बोधिसत्व ने. . .उत्तम परिव्राजक के वेष को धारण कर छन्दक को प्रेरित किया--

'छन्दक! मेरी ओर से मेरे माता-पिता को मेरा कुशल-समाचार कहाना।' छन्दक बोधिसत्व की वंदना तथा प्रदक्षिणा कर चला गया। फिर वहीं लिखा है कि कन्थक खड़ा-खड़ा छन्दक के साथ बोधिसत्व की बात को सुन-- 'अब फिर मुझे स्वामी का दर्शन न होगा' (सोच)

स्वामी के आँख से ओझल होने के शोक को सहन न कर सका और कलेजा फटने से मर कर त्रयोत्रिंश, (देव) लोक में जा कन्थक नामक देवपुत्र होकर पैदा हुआ। छन्दक को पहिले एक ही शोक था, कन्थक की मृत्यु से (अब) दूसरे शोक से पीडित था, वह रोता-कांदता नगर को चला।

लगता है "छन्दक बोधिसत्व की वंदना तथा प्रदक्षिणा कर चला गया" के बाद की पंक्तियाँ बाद की सूझ हैं : यदि कन्थक ने अभिनिष्क्रमण में सहायक होकर एक शुभ-कर्म किया था, तो उसे शोकाकुल होने की जरूरत नहीं थी। उस का मर कर त्रयोत्रिंश में जन्म ग्रहण करना तो कोरी कल्पना ही है, किन्तु निस्सन्देह कन्थक अश्वराज की स्वामीभक्ति की अभिव्यक्ति थी।

प्र. 50 : प्रव्रजित होने पर सिद्धार्थकुमार ने किस ओर कदम बढ़ाया और उन्हे सब से पहला अनुभव क्या हुआ ?

उ. बोधिसत्व प्रव्रजित हो उसी प्रदेश में अनूपिया नामक (नगर के) आमों के बाग में एक सप्ताह प्रव्रज्या-सुख में बिता, एक ही दिन में तीस योजन मार्ग पैदल चल कर राजगृह पहुँचे। नगर में प्रविष्ट हो भिक्षा के लिये निकले। सारा नगर बोधिसत्त से रूप को देख.... क्षुब्ध हो गया। राजपुरुषों ने जाकर राजा से कहा-- "देव ! इस रूप का एक पुरुष नगर में मधुकरी मांग रहा है; वह देव है या मनुष्य, नाग है या गरुड़, कौन है, हम नही जानते ?"

अट्ठकथाचार्य ने पहले भी सिद्धार्थ गौतम को एक ही रात में तीस योजना चलाया है। यहाँ फिर एक ही दिन में तीस-योजन ही हैं। अभिनिष्क्रमन के समय तो कन्थक की सवारी भी थी, अब यहाँ तो लिखा है कि एक ही दिन में पैदल ३०x८ = २४० मील।

प्र. 51 : तब राजा (बिम्बिसार) ने क्या किया ?

उ. राजा ने महल के ऊपर खडे हो महापुरुष को देख, आश्चर्यान्वित हो, अपने पुरुषों को आज्ञा दी-- " जाओ। देखो, यदि

अमनुष्य होगा. . . .तो लुप्त हो जायगा, यदि मनुष्य होगा, तो मिली हुई भिक्षा का भोजन करेगा।"

महापुरुष ने मिले हुए भोजन को ग्रहण कर ..... पाण्डव – पर्वत की छाया में पूरब–मुंह बैठ, भोजन करना आरम्भ किया। उस समय उनके आन्त उलट कर मुंह से निकलकर बाहर आई। जैसे मालूम पडा इस जीवन में ऐसा भोजन आँख से भी न देखा होनें से उस प्रतिकुल भोजन से दुखीत हो अपने आप को यों समझाया–– "सिद्धार्थ ! तू अन्न–पान–सुलभ कुल में नाना प्रकारके अत्युत्तम रसों कें साथ तीन वर्ष के (पुराने) सुगन्धित चावल भोजन किये जानेवाले स्थान में पैदा हो कर भी एक गुदडीदारी (भिक्षु) को देख कर (सोचता था) कि मैं भी कब इसी तरह (भिक्षु) बन कर भिक्षा मांग के भोजन करूँगा, क्या वह भी समय होगा ? और यही सोच घर से निकला था। अब यह क्या कर रहा हैं ?" इस प्रकार अपने को समझा विकार–रहित हो भोजन किया।

सिद्धार्थ–कुमार की ईमानदारी का यह अत्यन्त अद्‌भुत मानवीय वर्णन है। पता नहीं किसी अट्टकथाचार्य ने इसे भी सिद्धार्थं कुमार के लिये किसी घटिकार ब्रह्मा से स्वादिष्ट भोजन मँगवा कर क्यों चौपट नहीं किया ? भाग्य की ही बात है कि सिद्धार्थ गौतम का यह मानवीय रूप देववादी अट्टकथाचार्यों से बचा रह गया।

प्र. 52 : जिन राजपुरुषों को राजा ने सिद्धार्थ कुमार के बारे में यथार्थ रिपोर्ट लाने को भेजा था, उन्होंने क्या किया ?

उ. : राजपुरुषों ने उस समाचार को ...... जा कर राजा से कहा। राजा ने दूत की बात सुन तुरन्त नगर से निकल, बोधिसत्व के पास जा, उन की सरल चर्या से प्रसन्न हो, अपने सभी ऐश्वर्य बोधिसत्व को समर्पित किये। बोधिसत्व का उत्तर था––"महाराज ! न मुझे वस्तु-कामना है, न भोग-कामना। मैं महान् अभिसंबोधि (बुद्ध ज्ञान) प्राप्त करने के लिये घर से निकला हूँ।" राजा ने बहुत तरह से प्रार्थना की। सिद्धार्थकुमार दृढ़ रहे। तब राजा ने कहा अच्छा जब तुम बुद्ध होना, तो

पहिले हमारे राज्य में आना। क्या यह सिद्धार्थ गौतम की दृढता का मनमोहक उल्लेख नहीं है? ऐसी ही दृढता से किसी भी सिद्धि की प्राप्ती होती है।

प्र. 53 : राजगृह से प्रस्थान कर सिद्धार्थकुमार कहाँ गये ?

उ. : क्रमशः विचरण करते हुए बोधिसत्व आलार कालाम तथा उद्दक रामपुत्र के पास पहुँचे। उन दोनों से समाधि (लगाना) सीखा लेकिन सिद्धार्थ कुमार को लगा " यह समाधि लगाना ज्ञान प्राप्ति का रास्ता नहीं है।' उन्होंने उरुवेल को " रमणीय प्रदेश " मान अपनी उस समय की धारणा के अनुसार " महान तप " करना आरम्भ किया।

प्र. 54 : क्या " महान् तप " से सिद्धार्थकुमार को कुछ लाभ हुआ ?

उ. : हाँ, यही लाभ हुआ कि उन्हें इस बात का ज्ञान हो गया कि " महान तप " भी ज्ञान-प्राप्ति का साधन नहीं है।

प्र. 55 : क्या जिस समय सिद्धार्थ गौतम " तपस्या " कर रहे थे, जिस समय वह श्वासरहित ध्यान करते हुए, बहुत हीं क्लेश से पीड़ित (एवं) बेहोश हो टहलने के चबूतरे पर गिर पड़े थे, उन का कोई सहायक, उन का कोई संगी-साथी न था ?

उ. : क्यों नहीं ? कोण्डिन्य आदि पांच परिव्राजक " अब बुद्ध होंगे, अब बद्ध होंगे " प्रतिक्षा करते हुए छह वर्ष तक उन की सेवा करते हुए उन के आसपास रहे। किन्तु जब सिद्धार्थ गौतम ने दुष्कर तपस्या को बुद्ध-प्राप्ति का रास्ता न समझ त्याग दिया, तब कोण्डिन्य आदि पांच परिव्राजक भी सिद्धार्थ का साथ छोड़ चले गये। उन का कहना था-- छह वर्ष तक दुष्कर तपस्या करने पर भी यह 'बुद्ध' नहीं हो सका। अब ग्राम आदि में भिक्षा मांग स्थूल आहार ग्रहण करने पर क्या होगा ? यह लालची है, तप मार्ग से भ्रष्ट है।...इस से हमारा क्या मतलब (सधेगा) ?" यह सोच वे सभी महापुरुष को छोड़ अपने-अपने पात्र चीवर ले अठ्ठारह योजन दूर ऋषिपतन को चले गये।

ध्यान देने की बात है कि इन छोड़कर चले जाने वालों में एक वही तरुण कोण्डञ्ञ ब्राह्मण भी था, जिस ने बड़े ही विश्वासपूर्वक घोषणा की थी कि सिद्धार्थ गौतम महाज्ञानी बुद्ध होगा।

उसे अपने शास्त्र में विश्वास था, तो अब छोड़ कर क्यों चला गया? यह उसका दोष नहीं, यह दोष उस के फलित-ज्योतिष शास्त्र का है। यह "शास्त्र" हैं ही ऐसा!

प्र. 56 : यह जो सुजाता द्वारा खिलाई गई खीर की बात प्रसिद्ध है, वह क्या कथा है?

उ. : उस समय उरुवेला (प्रदेश) के सेनानी नामक कस्बे में सेनानी कुटुम्बी के घर में उत्पन्न सुजाता नाम की कन्या ने तरुणी होने पर एक बरगद से यह प्रार्थना की थी-"यदि समान जाति के कुल-घर में जा, पहिले ही गर्भ में (पुत्र) प्राप्त करूंगी, तो प्रतिवर्ष एक लाख के खर्च से बलिकर्म करूँगी," उस की वह प्रार्थना पूरी हुई।...

"सुजाता ने (अपनी) पूर्णा (नाम की) दासी को कहा-"अम्म! जल्दी से जाकर देवस्थान को साफ कर।" "आर्य! अच्छा" कह वह जल्दी ही वृक्ष के नीचे पहुँची। उस ने आकर वृक्ष के नीचे पूर्व की ओर ताकते हुए बोधिसत्व को देखा।...देख कर उस ने सोचा-"आज हमारे देवता वृक्ष से उतर कर, अपने हाथ से ही बलि ग्रहण करने को बैठे हैं।" उस ने जल्दी से जाकर यह बात सुजाता से कही। सुजाता ने उस की बात को सुनकर प्रसन्न हो कहा-"आज से अब तू मेरी जेष्ठ पुत्री होकर रह।"

तब सुजाता खीर को थाल में रख, दूसरे सोने के थाल से ढाँक, कपड़े से बाँध, सब अलंकारों से अपने आप को अलंकृत कर...बोधिसत्व के पास जा खड़ी हुई।

"घटिकार महाब्रह्मा द्वारा प्रदत्त मट्टी का पात्र (भिक्षापात्र) इतने समय तक बराबर बोधिसत्व के पास रहा, लेकिन इस समय यह अदृश्य हो गया।

"बोधिसत्व ने-पात्र को न देख, दाहिने हाथ को फैला, जल ग्रहण किया। सुजाता ने पात्रसहित खीर को महापुरुष के हाथ में अर्पण किया।...वह लाख (मुद्रा) के मूल्य की उस सुवर्ण थाली को पुराने पत्तल की भांति छोड़ चल दी।"

"बोधिसत्व ने उस खीर को खा, सोने की थालीं को नदी में फेंक दिया।"

इस कथा को चलचित्र-प्रेमियों ने तथा दूसरे कला-प्रेमियों ने व्यर्थ का महत्व दे दिया है। बौद्ध-धर्म की दष्टि से इस का कुछ भी तो महत्व नहीं है। पहली तो बात यही है कि जिस समय सुजाता ने यह खीर सिद्धार्थ गौतम को अर्पित की, उस समय तक वह 'बुद्ध' नहीं हुए थे। इस लिए सुजाता की यह खीर किसी भी 'बुद्ध' को अर्पित नहीं की गई थी।

दूसरे सुजाता ने अपनी समझ के अनुसार यह खीर वृक्ष-देवता को अर्पित की थी... उसे विशेष प्रसन्नता इसी बात की थी कि उस के लिये वृक्ष-देवता साकार हो उठा था।

तीसरे पता नहीं घटिकार-महाब्रह्मा द्वारा दिया गया भिक्षापात्र ठीक इसी समय क्यों लुप्त हो गया? क्या केवल इस लिये कि सिद्धार्थ कुमार सोने की थाली में खीर खा सके?

सिद्धार्थ-कुमार ने भी वह सोने की थाली में खीर खा चुकने के अनन्तर फेंक दी।

घटिकार-ब्रह्मा का दिया भिक्षा-पात्र पहले अदृश्य हो गया था। यह सोने की थाली भी फेंक दिये जाने पर क्या सिद्धार्थ कुमार पात्र विहीन नहीं हो गये होंगे? घटिकार ब्रह्मा द्वारा दी गई आठ उपयोगी चीजों में से एक कम नहीं हो गयी होगी? वह भी भिक्षा-पात्र जैसी उपयोगी वस्तु!

प्र. 57 : जब सिद्धार्थ-कुमार को "समाधि" द्वारा भी ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, "महान् तपस्या" के परिणामस्वरूप भी ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ,

तो आखिर वह संबोधि, जिसके कारण वे सम्यक् सम्बुद्ध कहलाये, कैसे प्राप्त हुई ?

उ. : "बोधिसत्व नदी–तीर के सुपुष्पित शाल–वन में दिन को विहार कर सायंकाल. . .बोधि–वृक्ष के पास गये,. . .उस समय घास लेकर सामने से आते हुए श्रोत्रिय नामक घास काटनेवाले ने महापुरुष को आठ मुट्ठी तृण दिये । बोधिसत्व उन तृणों के ही आसन पर विराजमान हुए । उन्होंने बोधि–वृक्ष की ओर पीठ करके दृढ आसन जमाया और निश्चय किया, चाहे मेरा चमड़ा, नसें, हड्डी ही क्यों न बाकी रह जाये, चाहे शरीर माँस रक्त क्यों न सूख जाये, लेकिन तो भी "सम्यक् सम्बोधि" को प्राप्त किये बिना इस आसन को नहीं छोडूंगा ।

इस समय भी सिद्धार्थ कुमार के मन की निहित–दुर्बलताओं ने, उनके चित्त की कलुष–वृत्तियों ने उन्हें एक बार बड़े जोर से झक झोरा प्रतीत होता है । यही बौद्ध–वाङ्मय का ही नहीं, बौद्ध चित्र शिल्पियों का अत्यन्त प्रिय विषय 'मार–युद्ध' है । बोधिसत्व विजयी हुए । पापी मार पराजित हुआ । लिखा है कि रात्री के प्रथम याम में बोधिसत्व को पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त हुआ, मध्य याम में दिव्य चक्षु को प्राप्ति हुई तथा अन्तिम–याम में प्रतीत्य–समुत्पाद का ज्ञान हुआ । संक्षेप में यही सिद्धार्थ–कुमार की संबोधि है । इसे ही प्राप्त कर उन्हें इतनी प्रसन्नता हुई कि उनके मुंह से यह उदान वाक्य निकला––

अनेकजातिसंसार संधाविस्सं अनिब्बिसं,
गहकारकं गवेस्सन्तो दूक्खा जातिपुनप्पुनं,
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि,
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं
विसंखारगतं चित्तं तन्हानं खयमज्झगाति ।

(मैं अनेक जन्मों तक लगातार संसार में दौड़ता रहा । मैं इस 'घर' बनानेवाले को खोजता रहा––क्योंकि बार–बार जन्म ग्रहण करना दुःखकर है । हे गृहकारक ! अब तू दृष्टिगोचर हो गया । अब

तू पुनः 'घर' का निर्माण नहीं कर सकेगा। हे (तृष्णारूपी) गृहकारक ! तेरी सभी कड़ियाँ टूट गई, तेरा शिखर बिखर गया। मेरा चित्त संस्कार विहीन (निर्मल) हो गया। तृष्णा का पूर्णरूप से क्षय हो गया।

इन गाथाओं में बोधिसत्व की उस समय की मनोदशा का चित्रण हैं जिस समय बोधिसत्व को लगा कि जिस महान् ज्ञान की खोज में उन्होंने अभिनिष्क्रमण किया था, जिस के लिये पूरे छह वर्ष तक, जो और जैसा आचरण जिस समय ठीक जँचा वैसा आचरण किया था, वह संबोधि-ज्ञान उन्हें प्राप्त हो गया। वे सम्यक् सम्बुद्ध कहलाने के अधिकारी हुए, तो उन्हें जो आनन्द हुआ, जो वर्णनातीत प्रीति का अनुभव हुआ। ये दोनों गाथाएँ उस आनन्द की उस अगाध-प्रीति की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इन में कुछ सम्यक् सम्बुद्ध को प्राप्त हुए ज्ञान का परिचय नहीं है। पहले कह दिया गया है कि वैशाख-पूर्णिमा की उस पुण्य-रात्रि को सिद्धार्थ-कुमार को प्रथम-याम में पूर्व-जन्मों का ज्ञान प्राप्त हुआ, दूसरे-याम में दिव्य चक्षु प्राप्त हुई तथा तीसरे-याम में प्रतीत्य-समुत्पाद नियम का ज्ञान प्राप्त हुआ। अब इस त्रिविध ज्ञान के बारे में यथार्थ जानकारी प्राप्त करना, इसके बारे में आवश्यक ऊहापोह करना हर दृष्टि से लाभप्रद है न ?

प्र. 58 : क्या भगवान् बुद्ध 'बुद्धत्व' लाभ करने के अनन्तर भी कुछ समय तक बोधि-वृक्ष के नीचे ही बैठे रहे ?

उ. : हाँ, भगवान् बोधिवृक्ष के नीचे सप्ताह भर एक आसन से विमुक्ति (मोक्ष) का आनन्द लेते हुए बैठे रहे। रात को प्रथम-याम में प्रतीत्य-समुत्पाद का अनुलोम (आदि से अन्त की ओर) क्रम से और प्रतिलोम (अन्त से आदि की ओर) क्रम से मनन किया--"अविद्या के होने से संस्कार होता है, संकार के होने से विज्ञान होता है, विज्ञान के होने से नाम-रूप होता है, नामरूप के होने से छह आयतन, छह आयतनों के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना कें होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने

से जाति, जाति (जन्म) के होने से जरा (बुढापा), मरण, शोक, रोना-पीटना, दुःख, चित्त-विकार और चित्त-खेद उत्पन्न होते हैं। इस तरह इस दुःखों के पुंज (संसार) की उत्पत्ति होती है। अविद्या के अशेष (सम्पूर्ण) नाश से संस्कार-विनष्ट होता है। संस्कार-नाश से विज्ञान का नाश होता है, विज्ञान-नाश से नाम रूप का नाश होता है। नामरूप के नाश से छह आयतनों का नाश होता है। छह आयतनों के नाश से स्पर्श का, स्पर्श के नाश से वेदना का, वेदना के नाशसे तृष्णा का, तृष्णा के नाश से उपादान का, उपादानके नाश से भव का, भव के नाश से जाति (जन्म) का, जाति (जन्म) नाश से जरा, मरण शोक, रोना-पीटना, दुःख, चित्त-विकार और चित्त-खेद नष्ट होते हैं। इस प्रकार इस सारे दुःख-पुञ्ज का नाश होता है।"

फिर भगवान् ने रात के मध्यम-याम में प्रतीत्य-समुत्पाद को अनुलोम-प्रतिलोम से मनन किया--"कविद्या के होने से संस्कार होता है...अविद्या का नाश होने से...दुःख-पुञ्ज का नाश होता है।"

फिर भगवान् ने रात के अन्तिम-याम में 'प्रतीत्य-समुत्पाद' का अनुलोम-प्रतिलोम-क्रम से मनन किया--"अविद्या...दुःख-पुञ्ज का नाश होता है।"

हम ने देखा कि रात्रिके प्रथम-याम में भी, रात्रि के मध्यम-याम में भी और रात्रि के अन्तिम-याम में भी भगवान् ने अनुलोम-प्रतिलोम से केवल प्रतीत्य-समुत्पाद का ही मनन किया। इससे इस सन्देह के लिये स्पष्ट गुंजायश है कि कहीं ऐसा न हो कि भगवान् बुद्ध का विशिष्ट ज्ञान केवल "प्रतीत्य-समुत्पाद" मात्र हो और यह पूर्व-जन्मों का ज्ञान तथा दिव्य चक्षु की प्राप्ति बाद में किये गये आरोप मात्र हों। यदि ऐसा न होता, तो यह स्वाभाविक था कि भगबान् बुद्ध रात्रि के तीनों यामों में अपने तीनों ज्ञानों का मनन करते; केवल एक ही ज्ञान का केवल प्रतीत्य-समुत्पाद का ही नहीं ?

प्र. 59 : क्या भगवान् बोधिवृक्ष के नीचे से दीर्घकाल तक उठे ही नहीं ?

उ. : नहीं, भगवान् बुद्ध बोधि–वृक्ष के नीचे केवल एक सप्ताह तक बैठे रहे। इस के बाद उन्होंने एक एक सप्ताह और भी भिन्न–भिन्न सात वृक्षों के नीचे बिताया।

प्र. 60 : सब से पहले भगवान् किस वृक्ष के नीचे गये ? क्या वहाँ कोई विशेष घटना घटी ?

उ. : भगवान बोधि–वृक्ष के नीचे से वहाँ गये, जहाँ अजपाल नामक बरगद का पेड़ था। उस समय एक अभिमानी ब्राह्मण भगवान् के पास आया। आकर भगवान् का कुशल–क्षेम पूछ कर एक ओर खड़ा हो गया। एक ओर खड़े ब्राह्मण नें भगवान् से कहा––"हे गौतम ! ब्राह्मण कैसे होता है ?"

भगवान् का उत्तर था –– "जो पाप–रहित हो, जो भी अभिमान रहित हो, जो भी विद्वान हो उसे 'ब्राह्मण' कहा जा सकता हैं।" लगता है भगवान् बुद्ध ने पहला प्रहार 'जातिवाद' पर ही किया।

प्र. 61 : अजपाल बरगद के नीचेसे से भगवान् कहाँ पधारे ?

उ. : अजपाल बरगद के नीचे वे मुचलिंद–वृक्ष के नीचे पधार और तदनन्तर राजायतन-वृक्ष के नीचे। उस समय तपस्सु और भल्लिक (दो) व्यापारी उत्कल–देश से उसी स्थान पर पहुँचे। एक ओर खड़े हुए तपस्सु ओर भल्लिक बनजारों ने भगवान् से कहा–"भन्ते भगवान् ! हमारे मट्ठे और लड्डुओं को ग्रहण करें। भगवान् ने उन दोनों बनजारों के दिये मट्ठे और लड्डुओं का भोजन किया। उस समय तपस्सु–भल्लिक बनजारों ने भगवान से कहा–" भन्ते ! हम दोनों भगवान तथा धर्म की शरण जाते हैं। आज से भगवान हम दोनों को साञ्जलि–शरणागत उपासक जानें।"

इस प्रकार पञ्चवर्गीय भिक्षुओं से भी पहले तपस्सु–भल्लिक नाम के दोनों बनजारों ने भगवान (बुद्ध) तथा धर्म (धम्म) की शरण ग्रहण की।

केवल इन दोनों के बारे में ही कहा जाता है कि ये ही दोनों संसार में केवल दो वचनों से उपासक बने ।

प्र. 62 : आजकल कभी कभी बाबासाहब भीमराव आम्बेडकर के प्रति श्रद्धावान्, कोई कोई सद्गृहस्थ चाहते हैं कि उन्हें बुद्ध, धर्म, संघ की शरण ग्रहण करने के साथ साथ " भीम " की भी शरण ग्रहण कराकर " बौद्ध " बनाया जाय । क्या यह ठीक है ?

उ. : यह ठीक नहीं है कि इस से बौद्ध–उपासकों में असंगठन और गुटबंदी के बीज बोये जा सकते हैं —कोई तीन शरणोंवाला 'उपासक' और कोई चार–शरणोंवाला 'उपासक' । स्वयं बाबा साहब भी त्रिशरणग्रहण किये 'उपासक' ही थे । इसलिये सभी का त्रिशरण ग्रहण करना ही योग्य हैं ।

प्र. 63 : राजायतन वृक्ष के बाद भगवान् कहाँ पधारे ?

उ. : राजायतन वृक्ष के बाद भगवान् जहाँ अजपाल बरगद था, वहाँ पधारे । वहाँ ध्यानावस्थीत स्थिति में भगवान के मन में वितर्क पैदा हुआ । मैंने गंभीर, दुर्दर्श दुर–ज्ञेय, शांत, उत्तम, तर्क से अप्राप्य निपुण, पण्डितों द्वारा जानने योग्य, इस धर्म को पाया । यह जनता काम–तृष्णा में रमण करनेवाली है । इस जनता के लिये जो प्रतीत्य समुत्पाद (का सिद्धान्त) हैं, यह दुर्दर्शनीय है । .... मैं यदि धर्मोपदेश भी करूँ और दूसरें उस को न समझ सकें, तो यह मेरे लिये व्यर्थ का परिश्रम होगा ।"

लेकिन बाद में भगवान ने बुद्ध–चक्षु से, सहानुभूति और दया की भावना से प्रेरित होकर लोगों की ओर देखा । भगवान् को दिखाई दिया––" जीवों में कितने ही ऐसे प्राणी हैं, जिन में चित्तमल की न्युनता है, जो तीक्ष्ण बुद्धि हैं, जो सुन्दर स्वभाववाले हैं, जिन्हें कोई भी बात आसानी से समझायी जा सकती है ।" ऐसे ही लोगों के कल्याणार्थ भगवान् बुद्ध ने धर्मोपदेंश देने का निर्णय किया । भगवान् का यह निर्णय कितना महत्वपूर्ण था, इस का कुछ अंदाजा इसी से लग सकता है कि

यदि भगवान् ने यह निर्णय न किया होता, तो आज की जन-संख्या का ही नहीं, पिछले ढाई हजार वर्ष से चली आ रही मानव-परम्परा का अधिकांश 'त्रिशरण' ग्रहण से वंचित रह जाता।

प्र. 64 : धर्मोपदेश देने का संकल्प अपनाकर भगवान् उरुवेला से आगे किधर गये ?

उ. : भगवान उरुवेला में इच्छानुसार विहार कर जिधर वाराणसी है, उधर ही जाने के लिये निकल पड़े। आजीवक सम्प्रदाय के अनुयायी किसी उपक ने भगवान् को देखकर पूछा—

"आयुष्मान् ! तेरी इन्द्रियां प्रसन्न हैं। तेरा छबि-वर्ण (शरीर की कान्ति) परिशुद्ध तथा उज्वल है। हे आवुस ! तू किस को गुरु मानकर प्रव्रजित हुआ है ! तेरा शास्ता कौन है ? तू किस धर्म को मानता है ?"

भगवान् ने उपक आजीवक को कहा— "मैंने सब को जीत लिया है, सब को जान लिया है, सभी से अलिप्त हूँ। मैं अपने ही ज्ञान से उपदेश करुँगा।"

"आयुष्मान् ! तू जैसा दावा करता है, इस से तो तू अनन्त 'जिन' भी हो सकता है।"

"मेरे जैसे ही सत्व 'जिन' होते हैं। हे उपक ! मैंने बुराइयों को जीत लिया है, इस अर्थ में मैं 'जिन' हूँ।"

उपक आजीवक "संभव हैं कि तुम 'जिन' ही हो" कहता हुआ सिर हिलाकर चला गया।

तथागत का धर्म लोकोत्तर होने पर भी तथागत के शरीर में कोई ऐसी बात नहीं थी कि उन्हें कोई सहसा पहचान सके।

प्र. 65 : 'यह जो कहा जाता है कि उन के शरीर से छह वर्ण की रश्मियाँ निकलती थीं, क्या यह सत्य नहीं ?'

उ. : यदि किसी व्यक्ति-विशेष को इस प्रकार की रश्मियाँ दिखाई

दी हों, तो ऐसा सत्य उस का व्यक्तिगत 'सत्य' हो सकता है, अन्यथा ये रश्मियाँ कवि-हृदय की आकांक्षा मात्र हैं ।

प्र. 66 : भगवान् क्रमशः चारिका करते हुए वाराणसी ऋषिपतन मृगदाव पहुँचे । वहाँ पहुँच कर उन्होंने क्या किया ?

उ. : वहीं पहुँच कर भगवान् ने अपना वह सर्वप्रथम उपदेश दिया, जो धर्म-चक्र-प्रवर्तन के नाम से प्रसिद्ध है । उस उपदेश का सार है-

" भिक्षुओ, इन दो अन्तों (अतियों) का प्रव्रजितों को सेवन नहीं करना चाहिये । कौन से दो ? (१) यह जो हीन, ग्राम्य, पृथकजनों (अज्ञ-मनुष्यों) के योग्य, अनार्य-सेवित, अनर्थों से युक्त, काम-भोग में लिप्त रहना है और (२) यह जो दुःखमय, अनार्यसेवित, अनर्थों से युक्त अपने शरीर को व्यर्थ की पीड़ा पहुँचाना है । भिक्षुओं, इन दोनों ही अन्तों से दूर बने रह कर, तथागत ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, जो कि आँख देनेवाला है, ज्ञान देनेवाला है, शान्ति के लिये है, अभिज्ञा के लिये है, सम्बोधि (परिपूर्ण ज्ञान) के लिये है, निर्वाण के लिये है । कौन सा है वह मध्यम-मार्ग, जो तथागत ने खोज निकाला है ? यही --आर्य अष्टांगिक मार्ग है, जैसे कि सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्- वचन, सम्यक्-कर्म, सम्यक्-जीविका, सम्यक्-व्यायाम (प्रयत्न), सम्यक्-स्मृति तथा सम्यक्-समाधि ।"

भगवान् ने यह कहा । संतुष्ट हो उन पंचवर्षीय भिक्षुओं ने, जो भगवान् को पथ-भ्रष्ट समझ छोड़ आये थे, भगवान् के कथन का अभिनंदन किया । इस धर्मोपदेश के दिये जाते समय आयुष्मान् कौण्डिन्य को यह दृष्टि प्राप्त हो गई कि "जो भी पैदा हुआ हैं, पैदा हो रहा है वा पैदा होगा, वह सब नष्ट होगा ।"

तब भगवान् ने उदान कहा - "अहा ! कौण्डिन्य ने जान लिया, कौण्डिन्य ने जान लिया ।"

लगता है भगवान् की देशना का मर्म इसी में छिपा हुआ है कि जो भी समुदय-धर्म (उत्पन्न होने के स्वभाववाला) है, वह सब विनाश-धर्म

(विनाश होने के स्वभाववाला) है। यही दूसरे शब्दों में 'प्रतीत्य-समुत्पाद' का भी सार है।

प्र. 67 : ज्ञानी कौण्डिन्य के बाद फिर किसे ज्ञान प्राप्त हुआ ?

उ. : ज्ञानी कौण्डिन्य के बाद आयुष्मान वप्प, आयुष्मान भद्दिय, आयुष्मान महानाम तथा आयुष्मान अश्वजित को धर्म चक्षु प्राप्त हुआ। यह धर्म-चक्षु, यह नई-दृष्टि यही थी कि जो भी समुदय-धर्म है वह सब निरोध-धर्म है, इस का कोई अपवाद नहीं।

प्र. 68 : तपस्सु भल्लिक तो दो वचनों द्वारा उपासक बने थे ? तीन वचनों द्वारा अर्थात त्रिशरण ग्रहण कर के सब से पहले कौन 'उपासक' हुआ था ?

उ. : वाराणसी का एक सेठ, जिसका 'यश' नाम का पुत्र भी पहले ही प्रव्रजित हुआ था।

प्र. 69 : क्या 'यश' के कुछ और भी संगी-साथी प्रव्रजित हुए थे ?

उ. : हाँ, यश के और भी कोई पचास साथी प्रव्रजित हुये थे। भगवान् ने सभी को 'आओ, धर्म सुआख्यात है.. श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करो,' कह उपसम्पन्न किया था। जिस समय उपसम्पन्न अर्हतों की संख्या एकसठ हो गई तब भगवान् ने उन्हें सम्बोधित कर कहा--

"भिक्षुओ, जितने भी दिव्य और मानुष बंधन हैं मैं उन सब से मुक्त हूँ। तुम भी दिव्य और मनुष पाशों से मुक्त हो। भिक्षुओं, बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोगों पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये, चारिका (विचरण) करो। एक साथ दो मत जाओ। भिक्षुओ ! आदि में कल्याण-कारक, मध्य में कल्याणकारक, अन्त में कल्याणकारक (इस) धर्म का उपदेश करो। अर्थसहित, व्यंजन-सहित केवल परिशुद्ध श्रेष्ठ जीवन का प्रकाश करों। अल्प दोषवाले प्राणी भी हैं, धर्म श्रवण न कर सकेंगे, तो उन की हानि होगी। (सुनना मिलने से) वे धर्म के जाननेवाले होंगे। भिक्षुओ, मैं भी जहाँ उरुवेला है, जहाँ सेनानी ग्राम है,

वहाँ धर्मदेशना के लिये जाता हूँ।''

हजरत मुहम्मद के जन्म से भी एक हजार दो सौ वर्ष पहले, हजरत ईसा के जन्म से भी कोई छः सौ वर्ष पहले, दुनिया के इतिहास में भगवान् बुद्ध ने ही सर्वप्रथम अपने भिक्षुओं को धर्मप्रचारार्थ बाहर भेजा। न केवल उन्हें भेजा, बल्कि स्वयं उन्होंने भी, उसी समय, उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रस्थान किया।

भगवान ने अपने भिक्षुओं को यह कह कर कि 'देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये...विचरण करो' भिक्षुओं को देवताओं से भी ऊँचा पद दे दिया।

प्र. 70 : क्या भगवान् बुद्ध ही भिक्षुओं को सदा प्रव्रजित तथा उपसम्पन्न करते रहे ?

उ. : नहीं। भगवान् ने जब देखा कि भिक्षु नाना देशों से नाना जनपदों से, ऐसे आदमियों को लिये चले आते हैं, जो प्रव्रजित होना चाहते हैं, जो उपसम्पन्न होना चाहते हैं, तो भगवान् के मन में विचार पैदा हुआ कि मैं क्यों न इन भिक्षुओं को ही इस बात की अनुमति दे दूं कि वे ही उन उन दिशाओं में, उन उन जनपदों में प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा ग्रहण करने की इच्छा रखनेवाले आदमियों को प्रव्रजित तथा उपसम्पन्न कर दिया करें। उन्होने भिक्षुओं को बुलाकर वैसा करने की अनुमति दे दी। भगवान् ने कहा—"भिक्षुओ, अब से तुम्हें ही उन उन दिशाओं में, उन–उन जनपदों में प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा देनी चाहिये और उस का प्रकार यह है—'पहिले शिर–दाढी मुंड़वा कर, काषाय वस्त्र पहना कर, उपरना (संघाटी) एक कंधे पर कराकर, भिक्षुओं की पाद वंदना कर, उकड़ू बैठा कर, हाथ जुड़वाकर "ऐसा बोलो" कहना चाहिये—"मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ, मैं धर्म की शरण जाता हूँ, मैं संघ की शरण जाता हूँ, मैं दूसरी बार भी बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ, संघ की शरण जाता हूँ। मैं तीसरी बार भी बुद्ध की...धर्म की...संघ की शरण जाता

हूँ। इन तीन शरणागमनों से प्रव्रज्या और उपसम्पदा देने की अनुज्ञा देता हूँ।"

भगवान बुद्ध के हाथ में दूसरों को प्रव्रजित तथा उपसम्पन्न करने का "अधिकार" था। उन्होंने उसे किस सहज भाव से त्याग दिया?

प्र. 71 : नाना देशों तथा जनपदों के कुलपुत्रों (तरुणों) ने तो बुद्ध धर्म संघ की शरण ग्रहण कर प्रव्रज्या और उपसम्पदा ली। क्या उस समय के 'साधुओं' ने भी प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा ग्रहण की?

उ. : न केवल साधुओं ने, बल्कि उनके नायकों ने भी भगवान् के अनुशासन में रहकर श्रेष्ठ-जीवन व्यतीत करने की प्रार्थना की थी। उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप तथा गया-काश्यप सदृश जटाधारियों ने अपने एक हजार जटिल शिष्यों सहित प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा ग्रहण की थी।

प्र. 72 : भगवान उरूवेला में इच्छानुसार विहार कर, उन पूर्व के हजार जटिल भिक्षुओं को लेकर कहाँ गये? क्या वहाँ भगवान् ने कोई महत्वपूर्ण उपदेश दिया?

उ. : हाँ निस्सन्देह भगवान ने गया में गया-सीस (वर्तमान ब्रह्मयोनि) पर्वत पर एक हजार भिक्षुओं के साथ विहार करते समय उन्हें बड़ा ही महत्वपूर्ण उपदेश दिया। भगवान् ने कहा--'भिक्षुओ, सभी जल रहा हैं। क्या जल रहा है? चक्षु जल रहा है। रूप जल रहा है। चक्षु-विज्ञान जल रहा है। श्रोत्र जल रहा है। शब्द जल रहा है। श्रोत्र-विज्ञान जल रहा है। घ्राण जल रहा है। गन्ध जल रहा है। घ्राण-बिज्ञान जल रहा है।...... जिह्वा जल रही है। रस जल रहा है। जिह्वा-विज्ञान जल रहा है।..... काया जल रही हैं। (स्पर्शेन्द्रिय) स्प्रष्टव्य जल रहा है। काय-विज्ञान जल रहा है। मन जल रहा है। धर्म (मन का चिन्तन) जल रहा है। मनोविज्ञान जल रहा है।.....

"भिक्षुओ, जो इस यथार्थ अनित्यता को देखता है, उसे निर्वेद प्राप्त होता है। निर्वेद प्राप्त होने से वह आसक्ति-रहित होता है।

आसक्ति–रहित होने से वह विमुक्त होता है।"

यही है भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट निर्वाण। यही है भगवान बुद्ध द्वारा इसी शरीर में साक्षात किया जानेवाला मोक्ष।

प्र. 73 : राजा बिम्बिसार ने भगवान से प्रार्थना की थी कि बुद्ध लाभ के अनन्तर वे सर्वप्रथम उस के राज्य में पधारें। क्या भगवान उस प्रार्थना को भूल गये ?

उ. : नहीं। भगवान गयासीस में इच्छानुसार विहार कर (राजा बिबिसार को दी प्रतिज्ञा स्मरण कर) सभी एक हजार पुराने जटिल भिक्षुओं के महान् भिक्षु–संघ के साथ, चारिका के लिये चल दिये। क्रमश: चारिका करते–करते भगवान राजगृह पहुँचे। .....

मगधराज श्रेणिक बिबिसार ने अपने माली के मुंह से भगवान की कीर्ति सुनी और उसे यह मालूम हुआ कि भगवान राजगृह में ही याष्ठि–वन के सुप्रतिष्ठित चैत्य में ठहरे हैं।

मगधराज श्रेणिक बिबिसार ने वहीं पहुँच, भगवान का श्रावकत्व (गृहस्थ शिष्य–भाव) ग्रहण किया।

तदन्तर राजा बिंबिसार ने निवेदन किया––"भन्ते ! मैं वेणुवन उद्यान बुद्ध–प्रमुख भिक्षु संघ को देता हूँ।"

भगवान ने राजा बिंबिसार का दिया हुआ वेणुवन उद्यान भिक्षु संघ के लिये स्वीकार किया और भिक्षुओं को सम्बोधित किया "भिक्षुओ, उद्यानादि निवास स्थान ग्रहण करने की अनुमति देता हूँ।"

गृह–त्यागी भिक्षुओं के लिये यहीं सांघिक–सम्पत्ति के उत्तराधिकारी बनने की नींव पड़ी।

प्र. 74 : भगवान् के भिक्षु–शिष्यों की मण्डली रोज रोज बढने ही लगी होगी। क्या उन भिक्षुओं में से किन्हीं को भगवान बुद्ध के प्रधान-शिष्य भी कहा जा सकता है ?

उ. : हाँ, यूं तो महाकाश्यप, उपाली, आनन्द, सारिपुत्र, मौद्गल्यायन आदि अनेक महान् भिक्षुओं को भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य कहा

जा सकता है, किन्तु उन में से सारिपुत्र तथा महामौद्गल्यान को ही भगवान् के दो अग्र-श्रावक मानने की परम्परा है।

प्र. 75 : ये दोनो अग्र-श्रावक किस प्रकार भिक्षु-भाव को प्राप्त हुए ?

उ. : उस समय संजय (नामक) पारिव्राजक राजगृह में ढ़ाई सौ परिव्राजकों की बड़ी जमात के साथ निवास करता था। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन संजय परिव्राजक के पास रहते थे। उन्होंने आपस में प्रतिज्ञा की थी--जो पहले अमृत को प्राप्त करे, वह दूसरे को कहे। दोनों ने ही अमृत प्राप्त किया। वह अमृत क्या था ? वह अमृत भगवान बुद्ध की शिक्षा थी, जिस का संक्षिप्त परिचय आयुष्मान् अश्वजित ने यह कर दिया था--

ये धम्मा हेतुप्पभवा, तेसं हेतु तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो, एवं वादी महासमणो॥

(अर्थ--जितने भी (कारण) हेतु से उत्पन्न होनेवाले (कार्य) 'फल' हैं, उन सब का हेतु और उनका निरोध तथागत ने बताया है- यही महाश्रमण का मत है।)

इन थोड़े से शब्दों में यहाँ इतनी बड़ी बात कह दी गई है कि गागर में सागर भरा ही समझो। कोई आश्चर्य नहीं कि बौद्धधर्म के सार-मन्त्र के रूप में इस का बहुधा उल्लेख होता है और ये शब्द अनेक शिला-फलकों पर भी उत्कीर्ण हैं।

प्र. 76 : क्या ये वही सारिपुत्र मौद्गल्यायन थे, जिनके धातु (पवित्र अस्थियाँ) अंग्रेज लोग सांची (मध्यप्रदेश) से इंग्लैण्ड ले गये थे और फिर जिन्हें कोई सौ वर्ष बाद उन्हों ने भारत लौटाया है तथा जो इस समय सांची के बिहार में विद्यमान् हैं ?

उ. : हां, ये वही सारिपुत्र-मौद्गल्यायन थे।

प्र. 77 : भगवान् बुद्ध धड़ाधड़ लोगों को प्रवजित करते जा रहे थे। क्या इस से उन की प्रशंसा होती थी, अथवा आलोचना भी ?

उ. : भगवान बुद्ध की भी प्रतिकूल–आलोचना न हुई हो, ऐसी बात नहीं। भगवान् बुद्ध की भी प्रतिकूल–आलोचना हुई थी और बराबर होती थी। लिखा है––

"उस समय मगध के प्रसिद्ध कुलपुत्र (खानदानी–तरुण) भगवान् के पास "भिक्षु" बनकर रहने लगे थे। लोग (देख कर) हैरान होते, निन्दा करते और दुखी होते थे––श्रमण–गौतम मातापिताओं को पुत्रविहीन बनाता है, श्रमण–गौतम स्त्रियों को पतिविहीन बनाता है, श्रमण-गौतम कुलों का विनाश करता है। अभी उस ने एक सहस्र जटिलों को "भिक्षु" बनाया। इन ढाई सौ संजय के परिव्राजकों को भी "भिक्षु" बनाया। अब मगध के प्रसिद्ध प्रसिद्ध खानदानी तरुण श्रमण–गौतम के पास "भिक्षु" बन रहे हैं।"

भगवान् का उत्तर था–"हम किसी को जोर जबर्दस्ती "भिक्षु" नहीं बनाते हैं। जो बनना चाहता है, उसे ही बनाते हैं। इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है?"

भगवान् की ऐसी आलोचना एक सप्ताह बीतते–बीतते स्वयं शान्त हो गई थी।

प्र. 78 : जब भिक्षुओं की संख्या अधिक हो गई होगी, तब उन के जीवन को निश्चित व्यवस्था में बाँधने के लिये भगवान बुद्ध को कुछ–न–कुछ करना ही पड़ा होगा ?

उ : हाँ, भगवान् को "उपाध्यायों" और "आचार्यों" की व्यवस्था करनी पड़ी और उन के प्रति भिक्षुओं के कर्तव्य निश्चित करने पड़े। भगवान् ने कहा, "शिष्य को समय से उठ कर.... उपाध्याय को दातुन देनी चाहिये, मुख धोने को जल देना चाहिये। आसन बिछाना चाहिये,। यदि खिछड़ी आदि किसी चीज का जलपान हो, तो जलपान कराना चाहिये.. उपाध्याय के उठ जाने पर आसन उठा कर रख देना चाहिये... यदि उपाध्याय गाँव जाना चाहते हों तो उन्हें चीवर आदि देना चाहिये ...यदि उपाध्याय अनुचर भिक्षु चाहते हों, तो उपाध्याय का अनुचर बनना

चाहिये ।... उपाध्याय के बात करते समय बीच में न टोकना चाहिये । उपाध्याय यदि सदोष बात बोल रहे हो तो उन्हें (विनम्रता-पूर्वक) मना करना चाहिये । लौटते समय पहिले ही आकर आसन बिछा देना चाहिये ।. . . यदि भिक्षा हो और उपाध्याय भोजन करना चाहते हों, तो पानी देकर भोजन कराना चाहिये ।. . . यदि उपाध्याय स्नान करना चाहें, स्नान कराना चाहिये ।.... उपाध्याय का शरीर मलना चाहिये । स्नान कर चुकने पर वस्त्र देना चाहिये ।

जिस विहार में उपाध्याय विहार करते हैं, यदि वह विहार मैला हो, तो उसे साफ करना चाहिये . . .अन्धेरे कोने साफ करने चाहिये ।... कूड़े को ले जाकर एक तरफ फेंकना चाहिये ।

"यदि जाड़े के दिन हों, दिन को खिड़की खुली रख कर, रात को बन्द कर देनी चाहिये । यदि गर्मी के दिन हों, दिन को खिड़की बन्द कर, रात को खोल देनी चाहिये ।. . . यदि पाखाना मैला हो तो उसे साफ करना चाहिये । . . . .यदि पाखाने की मटकी में जल न हो, तो उस में जल भरना चाहिये ।"

केवल उपाध्याय के प्रति शिष्य के कर्तव्यों को न गिना भगवान ने शिष्य के प्रति उपाध्याय के कर्तव्यों का भी निर्देश किया है । उपाध्याय को शिष्य पर अनुग्रह करना चाहिये ।. . . यदि उपाध्याय को चीवर है, शिष्य को नहीं ।. . . चीवर देना चाहिये या शिष्य को चीवर दिलाने का प्रयत्न करना चाहिये ।. . .यदि शिष्य रोगी हो, तो समय से उठकर शिष्य को दातुन देनी चाहिये . . .मुखोदक देना चाहिये । आसन बिछाना चाहिये ।. . . यदि पाखाने की मटकी में जल न हो उसे जल से भरना चाहिये ।"

प्र. 79 : क्या प्रव्रज्या और उपसम्पदा पूर्ववत् ही की जाती रही । अथवा बाद में उस की पद्धति में कुछ हेर–फेर हुआ ?

उ : भगवान् ने राध ब्राह्मण की प्रव्रज्या और उपसम्पदा के समय प्रव्रज्या और उपसम्पदा की पद्धति में कुछ हेर–फेर कर दिया । भगवान् बोले––"भिक्षुओ, मैंने जो तीन शरण–गमन से उपसम्पदा की अनुज्ञा दी थी, आज से उसे मना करता हूँ । (आज से) चौथी ज्ञप्ति (घोषणा)

वाले कर्म के साथ उपसम्पदा की अनुज्ञा देता हूँ। इस तरह ..... उपसम्पदा करनी चाहिये। योग्य समर्थ भिक्षु को चाहिये कि वह भिक्षु संघ को सूचित करे--

(१) भन्ते! संघ मुझे सुने; अमुक नाम के आयुष्मान् का अमुक नामक भिक्षु उपसम्पदा की अपेक्षा रखता है। यदि संघ उचित समझे, अमुक नाम के उपाध्यायत्व में अमुक नाम के भिक्षु को उपसम्पन्न करे। यह ज्ञाप्ति (सूचना) है।

(२) भन्ते! संघ मुझे सुने; अमुक नाम के आयुष्मान का अमुक नामक भिक्षु उपसम्पदा की अपेक्षा रखता है। संघ अमुक नाम के उपाध्यायत्व में अमुक नामक भिक्षु को उपसम्पन्न करता है। जिस आयुष्मान् को अमुक नाम के उपाध्यायत्व में अमुक नामक (भिक्षु) की उपसम्पद स्वीकार है, वह चुप रहे; जिसको स्वीकार न हो, वह बोले।

(३) दूसरी बार भी इसी बात को दोहराता हूँ--'भन्ते! संघ सुने, यह अमुक नाम के आयुष्मान् का अमुक नामक भिक्षु उपसम्पदा की अपेक्षा रखता है। .... जिस को स्वीकार न हो, वह बोले।

(४) तीसरी बार भी यही बात कहता हूँ--"भन्ते! संघ सुने..। वह बोले--"संघ को स्वीकार है, इसी लिये चुप है।"

भगवान् बुद्ध इसी प्रकार देश-कालानुसार भिक्षुओं के नियमों (विनय) में परिवर्तन करते रहे हैं। अपेक्षित परिवर्तन करना और परिवर्तित नियमों का पालन करना ही योग्य है।

प्र. 80 : भगवान् ने कपिलवस्तु नगर का त्याग करते समय संकल्प किया था कि बुद्ध होने पर ही लौटूंगा। तो क्या वे 'बुद्धत्व' लाभ करने के अनन्तर पुनः कपिलवस्तु लौटे ?

उ. : हाँ, तथागत के वेणु-वन में विहार करते समय जब राजा शुद्धोदन के मन में अपने पुत्र का दर्शन करने की बलवती इच्छा जगी, तो उसने कालुदायी नामक अमात्य को जैसे भी बने तथागत को लिवा लाने के लिये भेजा। कालुदायी शुद्धोदन का विश्वस्त-अमात्य और

तथागत का भी बचपन का 'लँगोटिया-यार' था। वह बड़ी जुगत से तथागत को कपिलवस्तु लाने में सफल हुआ।

प्र. 81 : भगवान् की यात्रा कैसी रही ?

उ. : शास्ता ने बुद्धत्व लाभ करने के अनन्तर सर्वप्रथम वर्षाऋतु भर ऋषिपतन में ही निवास किया। इस के बाद उरुवेला में तीन मास बिताये। वहाँ तीनों जटिल काश्यपों को रास्ते पर ला, पौष मास की पूर्णिमा को राजगृह पहुँच; दो मास वहाँ रहे। इतने में वाराणसी से चले पाँच मास बीत गये थे। राजगृह से निकल कर भगवान् रोज योजन भर चलते थे। उन की इच्छा थी कि राजगृह से साठ योजन कपिलवस्तु दो मास में पहुँचे। इसी लिये धीमी चाल से चलते थे।...

प्र. 82 : अपने राज्य में और अपने परिवार में तथागत का अद्भुत स्वागत हुआ होगा ?

उ. : शाक्यों ने...भगवान् के रहने के स्थान का विचार करते हुए, न्यग्रोध (नामक) शाक्य के आराम को रमणीय जान, वहाँ सफाई करा; गंध, पुष्प हाथ में ले, अगवानी के लिये सब अलंकारों से अलंकृत नगर के छोटे लड़के–लड़कियों को पहले भेजा। फिर राजकुमारों और राजकुमारियों को। उनके बाद स्वयं गन्ध, पुष्प, चूर्ण आदि से भगवान् की पूजा करते, न्यग्रोधाराम ले गये।

दूसरे दिन भगवान् ने नगर के एक छोर से भिक्षाचार (भिक्षाटन) आरम्भ किया।

आर्य सिद्धार्थ भिक्षाचार कर रहे हैं। सुन लोग खिड़कियाँ खोल खोल देखने लगे। राहुल–माता देवी भिक्षाचार करते हुए भगवान् को देख अत्यन्त क्षुब्ध हुई। उस ने राजा से कहा––आप का पुत्र भिक्षाचार कर रहा है। राजा धोती संभालता हुआ बड़े वेग से भगवान् के पास पहुँचा और बोला––

"भन्ते! हमें क्यों लजाते हो? यह भिक्षाचरण किस लिये?

क्या आपको और आपके भिक्षुओं को देने के लिये हमारे पास भोजन नहीं है ?"

"महाराज ! हमारे वंश का यही आचार है।"

"भन्ते ! हम लोगों का वंश क्षत्रिय-वंश है। हमारे वंश में कभी किसी एक ने भी तो भिक्षाचार नहीं किया।"

"राजन् ! तुम्हारा वंश क्षत्रिय-वंश होगा। हमारा वंश तो बुद्धों का वंश है।"

भगवान् जन्म से जाति-पांति के ठेके को नहीं मानते थे।

प्र. 83 : क्या राहुल-माता भी भगवान् के स्वागतार्थ आई ?

उ. : नहीं, जब राजा ने उसे कहा, 'जाओ, आर्य-पुत्र की वंदना करो,' तो उस का उत्तर था, "यदि मुझ में गुण हैं, तो स्वयं आर्य-पुत्र मेरे पास आयेंगे। आने पर ही वंदना करूँगी।" सिद्धार्थकुमार ही गोपा को छोड़ कर गये थे। मानवीय-भावना के हिसाब से उन्हीं का कर्तव्य था कि वह राहुल-माता को देखने जायें। यशोधरा के स्वाभिमान और तथागत की करुणा में समझोता हुआ। भगवान् अपने दो प्रधान शिष्यों-- सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन सहित-राजकुमारी यशोधरा के शयनागार में पहुँचे। उन्होंने अपने दोनों अग्र-श्रावकों को आदेश दे दिया था कि "राजकन्या को यथारुचि वंदना करने देना। कुछ न बोलना।" यशोधरा ने सिर को पैरों पर रख अपनी इच्छानुसार वंदना की।

कपिलवस्तु में रहते समय भगवान् ने स्वयं प्रजापती गौतमी के पुत्र नन्दकुमार को तथा राहुल को भी प्रव्रज्या दी।

प्र. 84 : क्या बुद्ध धर्म में किसी को भी सहसा 'भिक्षु की दीक्षा' मिल सकती है ?

उ. : नहीं। लिखा है, जब आयुष्मान् सारिपुत्र ने राहुलकुमार को प्रव्रजित किया, तब शुद्धोदन शाक्य जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। भगवान को अभिवादन कर एक ओर बैठ, उसने कहा-

"भन्ते ! भगवान से मैं एक वर चाहता हूँ।"

"तथागत वर से दूर हो चुके हैं।"

"भन्ते ! यदि वर उचित हो, दोष-रहित हो ?"

"कहो।"

"भगवान के प्रव्रजित होने पर मुझे बहुत दुःख हुआ, वैसे ही नन्द के प्रव्रजित होने पर भी। राहुल के (प्रव्रजित) होने पर अत्यधिक। भन्ते ! पुत्र-प्रेम मेरी चमड़ी छेद रहा है। चमड़ी को छेद कर माँस को छेद रहा है। माँस को छेद कर नस को छेद रहा है। नस को छेद कर हड्डी को छेद रहा है। हड्डी को छेद कर घायल कर दिया है। अच्छा हो, भन्ते ! आर्य (भिक्षु लोग) माता-पिता की अनुज्ञा के बिना किसी को प्रव्रजित न करें।"

भगवान् ने इसी मौके पर, इसी प्रकरण में धार्मिक कथा कह भिक्षुओं को सम्बोधित किया--"भिक्षुओ, माता-पिता की अनुज्ञा के बिना, पुत्र को प्रव्रजित न करना चाहिये। जो प्रव्रजित रहेगा, यह उस का दुष्कृत (दोष) होगा।"

भगवान् की इस आज्ञा का पिछले ढाई हजार वर्ष से अक्षरशः पालन होता चला आ रहा है।

प्र. 85 : राहुल तथा नन्द की प्रव्रज्या के अनन्तर और कौन विशिष्ट व्यक्ति प्रव्रजित हुए ?

उ. : भद्दिय, अनुरुद्ध, आनन्द, भगु, किम्बिल, देवदत्त तथा सातवें उपाली की प्रव्रज्या एक साथ हुई थी। इन में से पहले छह जने शाक्य (क्षत्रिय) थे, किन्तु उपाली नाई था। शाक्य-कुमार जब उपाली हजाम सहित भगवान् के पास पहुँचे, तो बोले--

"भन्ते ! हम शाक्य अभिमानी होते हैं। यह उपाली नाई चिर-काल तक हमारा सेवक रहा है। इसे भगवान पहिले प्रव्रजित करायें। (जिसमें कि) हम इस का अभिवादन, सत्कार, हाथ जोड़ना आदि करें। इस प्रकार हम शाक्यों का शाक्य (क्षत्रिय) होने का अभिमान मर्दित होगा।"

भगवान ने उपाली हजाम को पहिले प्रव्रजित किया, शाक्यकुमारों को बाद में।

भगवान के परिनिर्वाण के अनन्तर जो संगीति हुई थी, उस में महाकाश्यप ने विनय-सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान करने के लिये इन्हीं महास्थविर उपाली का चुनाव किया था।

प्र. 86 : कपिलवस्तु में रहते समय जब राहुल ने प्रव्रज्या ग्रहण की, तो शुद्धोदन और राहुल-माता भी कम से कम त्रिशरणागत 'उपासक' और 'उपासिका' भाव को प्राप्त हुए ही होंगे ?

उ. : क्यों नहीं ? भगवान की देशना की यही विशेषता थी कि वह अपने पराये का भेद नहीं मानती थी। एक बार उन्होंने आयुष्मान् राहुल को सम्बोधित करके कहा था—

" राहुल, जिन्हे जान-बूझ कर झूठ बोलने में लज्जा नहीं, उन का श्रमण-भाव दो कौडी का है। राहुल ! हँसी-मजाक में भी झूठ नहीं बोलना चाहिये। राहुल ! किसी भी काम को करते समय यह सोचना चाहिये, क्या इस से मेरा हित होगा ? क्या इस से पराया हित होगा ? क्या इस से मेरा तथा पराया दोनों का हित होगा ? राहुल ! किसी भी शब्द को मुंह से निकालते समय यह सोचना चाहिये, क्या इस से मेरा हित होगा, क्या इस से पराया हित होगा ? क्या इस से मेरा तथा पराया दोनों का हित होगा ? राहुल ! किसी भी बात को मन में जगह देते समय यह सोचना चाहिये, क्या इस से मेरा हित होगा ? क्या इस से पराया हित होगा ? क्या इससे मेरा तथा पराया दोनों का हित होगा ? राहुल ! इसी प्रकार सोच-विचार कर हर कार्य करना चाहिये।"

प्र. 87 : क्या भगवान् बुद्ध के धर्म को उन के सगोत्रीय शाक्य-जनों ही ने अपनाया, अथवा अन्य वर्गों के लोगों ने भी अपनाया था ?

उ : सभी वर्गों के लोगों ने, किन्तु प्रधानता तो क्षत्रियों, ब्राह्मणों तथा वैश्यों की ही रही। एक समय भगवान् राजगृह में सीतवन में

विहार करते थे। उस समय अनाथपिंडिक गृहपति किसी काम से राजगृह गया। वह राजगृह के सेठ का बहनोई था। वहाँ उसे भगवान् के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय उस ने प्रार्थना की——

"भिक्षु-संघ के साथ भगवान् श्रावस्ती में वर्षावास स्वीकार करें।"

भगवान् ने स्वीकार किया।

उस समय अनाथपिण्डिक का आस-पास बहुत प्रभाव था। राजगृह से श्रावस्ती आते समय वह रास्ते भर लोगों को कहता आया-"मैंने भिक्षु संघ सहित भगवान बुद्ध को श्रावस्ती पधारने का निमंत्रण दिया है। वे इसी मार्ग से आयेंगे। उन के स्वागत की तैयारी करो।"

भगवान बुद्ध के श्रावस्ती पहुँचने पर उस ने जेतकुमार को मुंह माँगा दाम देकर, उस से जमीन ले, भिक्षु-संघ सहित भगवान बुद्ध के रहने के लिये बड़ा भरी विहार बनवाया, जो 'अनाथ पिण्डिक का जेतवना-राम' नाँम से प्रसिद्ध हुआ।

सहेट-महेट (जिला गोण्डा, उत्तर-प्रदेश) में इस समय भी इस विहार के नष्टावशेष देखे जा सकते हैं।

प्र. 88 : क्या धनी-जन ही भिक्षुओं के लिये निवास-स्थान बनवाते थे, अथवा सामान्य साधन-हीन जन भी श्रद्धा से प्रेरित हो ऐसा प्रयास करते थे ?

उ. : न केवल धनी-वर्ग ही बल्कि सामान्य जन भी यथाशक्ति भिक्षुओं के लिये निवास-स्थान बनवाने की चिन्ता और प्रयत्न करते थे। एक समय एक जुलाहे के मन में यह विचार हुआ कि क्यों न मैं भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार भिक्षुओं के रहने के लिये एक कुटी बनवाऊँ ? उस गरीब जुलाहे ने स्वयं ही गारा तैयार कर, ईंटें चिन, दीवार खड़ी की। अनुभवहीनता के कारण उस की बनाई दीवार पहली बार, दूसरी बार और तीसरी बार भी गिर पड़ी। वह जुलाहा बड़ा खिन्न हुआ। उस समय भिक्षुगण उन्हीं के लिये बनाये जाने वाले विहार के निर्माण के समय उस की देख-रेख कर देते थे-ठीक-ठीक बन रहा है या नहीं ?

गरीब जुलाहे द्वारा बनाई जा रही कुटी की मरम्मत में कोई भी सहायक न हुआ था। जुलाहा सोचने लगा—"यह भिक्षु उन धनियों द्वारा बनवाये जानेवाले विहारों की ही देख-भाल करते हैं, जो इन्हें चीवर आदि देते हैं। मैं दरिद्र हूँ, इसलिये मुझे कोई भी सलाह-मशविरा तक नहीं देता।

भगवान ने नियम बनाया—"भिक्षुओ, विहार आदि बनवाने के काम का निरीक्षण करने के लिये नव-कर्मिक (नये निर्माण कार्य का निरीक्षक) देने की अनुज्ञा देता हूँ। नव-कर्मिक भिक्षु को कोशिश करनी होगी कि विहार जल्दी बनें और उसे टूटे-फूटे की मरम्मत भी करानी होगी।"

प्र 89 : क्योंकि सभी भिक्षु बुद्ध, धर्म, संघ की ही शरण ग्रहण कर समान रूप से दीक्षित होते थे, इसलिये उन में कोई बड़ा-छोटा न होता होगा ?

उ. : आरम्भ में शायद ऐसा ही रहा हो। किन्तु बाद में भगवान बुद्ध ने नियम बना दिया था कि भिक्षु-संघ में भी बड़े-छोटे का भेद रहे। जिस भिक्षु की उपसम्पदा पहले हुई हो, उसे जिस की उपसम्पदा बाद में हुई हो, वह भिक्षु अपने से बड़ा समझे। अपने से बड़े के प्रति जो और जैसा अभिवादन आदर-सत्कार करना योग्य हो, वह करे तथा हर विषय में उसे प्रथम स्थान देना आदि करे।

प्र. 90 : व्यक्तिओं से ही समूह बनता है और भिक्षुओं से ही भिक्षुसंघ। भिक्षुओं को भोजन-वस्त्र आदि आवश्यकतायें उन्हें सद्गृहस्थों से ही प्राप्त होती हैं। व्यक्तिगत रूप से किसी एक भिक्षु को दान देना अधिक श्रेयस्कर है, अथवा सामुहिक रूप से संघ को ?

उ. : भगवान बुद्ध ने हर हालत में 'दान' देने को एक शुभ-कर्म ही माना है। तो भी व्यक्तिगत रूप से किसी एक भिक्षु को दिये गये 'दान' की अपेक्षा सामुहिक रूप से भिक्षु-संघ को दिये गये 'दान' को उन्होंने श्रेष्ठतर ठहराया है। एक बार स्वयं भगवान बुद्ध की मौसी प्रजापति गौतमी अपने हाथ से काता, बुना धुस्से का जोडा लेकर भगवान को

अर्पित करने के लिये उन के पास पहुँची। भगवान का कहना था-- "मैं व्यक्ति को दिये गये दान से संघ को दिये गये दान को सदा ही श्रेष्ठ मानता हूँ।"

"गौतमी ! इसे संघ को दे। संघ को देने से मैं भी पूजित होऊँगा, संघ भी।"

भगवान की सेवा में ही नित्य लगे रहनेवाले आनन्द ने भी महा-प्रजापति गौतमी की ओर से बहुत वकालत की।

व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व देना एक प्रकार से समाजवाद की मूल स्थापना है।

प्र. 91 : अभी तक पुरुषों के ही "भिक्षु" बनने की बात कही गई है। क्या बुद्ध धर्म में स्त्रियों का "भिक्षुणी" बनना निषिद्ध रहा है ? यदि नहीं, तो क्या आजकल भी "भिक्षुणियाँ" बनती है ?

उ. : सिद्धान्ततः भगवान बुद्ध को स्त्रियों के भी "भिक्षुणी" बनने पर न आपत्ति हो सकती थी, न हुई। किन्तु इस के व्यावहारिक पक्ष का ख्याल कर वे इस विषय में मन्दोत्साह ही रहे। जब प्रजापति गौतमी अनेक दूसरी शाक्य स्त्रियों के साथ "भिक्षुणी" बनने की अनुमति देने की प्रार्थना करने के लिये भगवान की सेवा में उपस्थित हुई तो उन्होंने कहा--

"गौतमी। तू 'भिक्षुणी' बनाने का विचार छोड़ दे।"

प्रजापति गौतमी के अपने संकल्प पर दृढ रहने पर और आनन्द स्थविर के उन की बहुत वकालत करने पर भगवान बुद्ध ने अनिच्छुक मन से प्रजापति गौतमी तथा अन्य शाक्यस्त्रियों को उपसम्पन्न होने की अनुमति दे दी, किन्तु साथ ही यह शर्त लगाई कि भिक्षुणियों को भिक्षुओं की अपेक्षा आठ अधिक नियमों का पालन करना पड़ेगा, जिनमें से दो ये हैं--

(१) सौ वर्ष पूर्व उपसम्पन्न हुई भिक्षुणी को भी उसी दिन उपसम्पन्न हुए भिक्षु को अपने से ज्येष्ठ मान यथोचित आदर देना होगा।

(२) भिक्षु भिक्षुणियों को जो चाहे कहें, भिक्षुणियाँ भिक्षुओं को कुछ न कह सकेंगी।

ऐसा सन्देह करने की काफी गुंजाइश है कि ये पक्षपातपूर्ण शर्ते भगवान बुद्ध द्वारा प्रज्ञापित न की गई होंगी, बल्कि भिक्षुओं के ही अपने दिमाग की उपज होंगी।

भिक्षुणी-शासन भिक्षु-शासन की तरह चिरस्थायी नहीं हुआ। सिंहल, स्याम, वर्मा-प्राय:सभी स्थविरवादी बौद्ध देशों से विलुप्त हो गया है।

कितने ही आश्चर्य की बात होने पर भी यह सत्य है कि एक सिंहल भिक्षुणी द्वारा चीन देश में ले जाई गई भिक्षुणी-परम्परा आज भी वहाँ विद्यमान है।

प्र. 92 : जितने भी लोग " भिक्षु " बनते थे, वे " भिक्षु " बनते ही, कुछ " अर्हत " नहीं हो जाते होंगे, उन में आपस में कभी-कभी वादविवाद ही नहीं कलह-विवाद भी हो जाता होगा, तब भगवान् क्या करते थे ?

उ. : जहाँ चार बरतन होते हैं, आपस में रगड़ खा ही जाते हैं। भिक्षुमण्डली भी इस का अपवाद नहीं थी। कभी कभी तो बहुत छोटी-छोटी बातों पर वाद खड़ा हो जाता था।

एक समय भगवान कौशाम्बी के घोषितारामं में विहार करते थे। उस समय कौशाम्बी के भिक्षु प्राय: परस्पर विवाद करते रहते थे, झगड़ते रहते थे, मुखरुपी बर्छी से एक-दुसरे को बींघते रहते थे। तब कोई एक भिक्षु जहाँ भगवान थे वहाँ पहुँचा और जाकर एक ओर खड़ा हो गया। उस भिक्षु ने भगवान् से कहा-- " भन्ते ! यहाँ कौशाम्बी में भिक्षु प्राय: परस्पर विवाद करते रहते हैं, झगडते रहते हैं, मुखरूपी बर्छी से एक दूसरे को बींघते रहते हैं। अच्छा हो भन्ते ! भगवान् ! जहाँ वे भिक्षु हैं, वहाँ चलें।"

भगवान् ने मौन रह कर स्वीकार किया। तब भगवान् जहाँ वे भिक्षु थे वहाँ गये। जाकर उन भिक्षुओं को समझाया --

"भिक्षुओ, आपस में विवाद, कलह, झगड़ा मत करो।"

भिक्ष बोले—"धर्म-स्वामी! आप बीच में न पड़ें। धर्मस्वामी आप बीच में न बोलें। आप सुखपूर्वक रहें। हम इस झगड़े से निपट लेंगे।"

भगवान् बोले—"कठोर वाणी का उपयोग करनेवाले सभी अपने अपने को 'पण्डित' मानते हैं। न उन्हें मेरी चिन्ता हैं और न संघ-भेद की चिन्ता हैं। वैर से वैर शान्त नहीं होता। अवैर से ही शान्त होता है। हड्डी तोड़नेवाले, प्राण हरनेवाले, गाय-घोड़ा आदि चुरानेवालों तक का आपस में मेल हो जाता है। यदि नम्र, सदाचारी धीर पुरुष संगति के लिये मिले तो आदमी उस की संगति करे अन्यथा आदमी अकेला ही विचरे। मूर्खों की संगति में रहने की अपेक्षा अकेला ही विचरना अच्छा हैं।"

प्र. 93 : सभी कई परस्पर एक दूसरे को 'मूर्ख' समझ अकेले ही विचरेंगे, तो कैसे चलेगा?

उ. : कोई भी आदमी हर विषय में 'मूर्ख' नहीं होता। जो आदमी जिस विषय में 'पण्डित' हो उस सम्बन्ध में उस की संगति करे अन्य बातों को लेकर पृथक ही रहे। हाँ दया-बुद्धि से अपने से मूर्खों की भी संगति करना ठीक है जिसमें उन को भी कुछ ज्ञान दिया जा सके, उन का भला किया जा सके।

प्र. 94 : कभी-कभी ऐसा होता ही होगा कि भिक्षुओं में भी वाद-विवाद या कलह तक उभर आता होगा, किन्तु सामान्यतया तो भिक्षु परस्पर सहोदरभाव से रहते होंगे ?

उ. : हाँ। एक बार की कथा है कि आयुष्मान् अनुरुद्ध आयुष्मान नन्दिय आदि भिक्षु प्राचीन-वंश-दाव विहार में विहार करते थे। भगवान् वहाँ पहुँचे, तो उन्होंने प्रश्न किया —

"अनुरुद्धो! तुम अच्छी तरह से तो हो? सकुशल तो हो तुम्हें भिक्षा मिलने में तो कठिनाई नहीं होती?"

"भन्ते ! हम अच्छी तरह से हैं। भन्ते ! हम सकुशल है। हमें भिक्षा मिलने में कठिनाई नहीं होती !"

"अनुरुद्ध ! क्या तुम परस्पर प्रसन्नतापूर्वक दूध-पानी की तरह घुले-मिले रहते हो ?"

"भन्ते ! हाँ हम परस्पर प्रसन्नतापूर्वक दूध-पानी की तरह घुले-मिले रहते है।"

"अनुरुद्ध ! तुम किस तरह परस्पर प्रसन्नता-पूर्वक दूध-पानी की तरह मिले रहते हो ?"

"भन्ते ! मैं सोचता हूँ कि यह मेरा बड़ा भाग्य है कि मुझे ऐसे संगी-साथी मिले हैं। भन्ते ! मेरे संगी-साथी मन-वचन-कर्म से मेरे प्रति मैत्री का व्यवहार करते हैं। तब भन्ते ! मैं सोचता हूँ कि क्यों न मैं भी अपने मन की न कर इन्हीं आयुष्मानों के मन की करूँ। भन्ते ! हमारे शरीर पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु हम सब का चित्त एक है।"

"अनुरुद्ध ! तुम कैसे परस्पर प्रसन्नतापूर्वक दूध-पानी की तरह मिले रहते हो ? जरा अधिक स्पष्ट करो।"

"भन्ते ! हमारे में जो पहिले ग्राम से भिक्षाटन करके लौटता है, वह आसन लगाता हैं, पीने का पानी रखता है . . . । जो पीछे गांव से भिक्षाटन करके लौटता है, (वह) भोजन (में से जो) बचा रहता है, यदि चाहता है खाता है, (यदि) नहीं चाहता है तो (ऐसे) स्थान में जहा हरियाली न हो, छोड़ देता है, या जीव-रहित पानी में छोड़ देता हैं। आसनों को समेटता है। . . . . . खाने की जगह पर झाड़ू देता है। पानी के घड़े, पीने के घड़े, पाखाने के घडे में से, जिसे खाली देखता है, भर कर रख देता है। यदि वह (काम) उस से होने लायक नहीं होता, तो हाथ के इशारे से, हाथ के संकेत से, दूसरों को बुलाकर घडों को भरवाता है।

भन्ते ! हम उसके लिये वाक्-युद्ध नहीं करते। भन्ते ! हम पाँचवे दिन सारी रात धर्म-कथा करते बैठते हैं। भन्ते हम इस प्रकार प्रमाद-

रहित रहते हैं ।"

प्र. 95 : क्या कभी ऐसा भी हुआ है कि भिक्षुओं से भिक्षुणियों से, उपासकों से, उपासिकाओं से, राजाओं से, राजमहामात्यों से, तैर्थिकों (अन्य सम्प्रदाय के साधुओं) से, तैर्थिक श्रावकों से घिरे रहने के कारण अथवा भिक्षुओं के परस्पर कलह के कारण भगवान को हैरानी अनुभव हुई हो, चित्त–क्लेश अनुभव हुवा हो ?

उ. : हाँ, एक बार भगवान को ऐसी ही परिस्थिति में यह लगा कि मैं इस समय इतने जनों से आकीर्ण होने के कारण सुखपूर्वक नहीं विचरता हूँ । क्यों न मैं अकेला ही विचरूँ ? उस समय भगवान कौशाम्बी में भिक्षाटन कर, भोजन के पश्चात्, स्वयं आसन समेट, पात्र–चीवर ले, सेवक (उपस्थाक) को भी बिना सूचना दिये, संघ को भी बिना खबर किये, अकेले ही जिधर पारिलेयक (वन) था, उधर चल दिये । वहाँ पारिलेयक में भद्र–शाल (वृक्ष) के नीचे रहे । पारिलेयक में इच्छानुसार विहार कर, जिधर श्रावस्ती थी, उधर चारिका के लिये चल दिये । क्रमशः चारिका करते–करते जहाँ श्रावस्ती थी, वहाँ पहुचे । भगवान श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवनाराम में ठहरे ।

इधर कौशाम्बी के उपासकों (गृहस्थ शिष्यों) ने विचारा —–यह कौशाम्बी के भिक्षु, हमारा बड़ा अनर्थ करनेवाले हैं । इन से ही पीड़ित हो भगवान चले गये । तो अब हम कौशाम्बी के भिक्षुओं का आदर–सत्कार कुछ न करेंगे, यहाँ तक कि भिक्षाटन के लिये आने पर भिक्षा तक न देंगें । इस प्रकार हम लोगों द्वारा उपेक्षित होने पर ये या तो गृहस्थ बन जायेंगें, या जाकर भगवान को प्रसन्न करेंगे ।"

तब कौशाम्बी–वासी उपासकों ने कौशाम्बी–वासी भिक्षुओं का आदर–सत्कार करना छोड़ दिया और उन्हें भिक्षा देनी बन्द कर दी । कौशाम्बी वासी भिक्षु मजबूर हुए । कहने लगे–––

"अच्छा आयुष्मानो ! हम लोग भगवान् के पास श्रावस्ती जाते हैं और इस झगड़े का निपटारा कराते हैं ।"

सभी ने सुना कि कौशाम्बी वासी झगडालू भिक्षु श्रावस्ती आ रहे हैं। सारिपुत्र-प्रमुख सभी ने भगवान् से पूछा--"हम इन के साथ कैसे बर्ते ?"

भगवान् ने कहा--"दोनों पक्षों की बात सुननी चाहिये। जिस की बात सही जँचे, उस पक्ष को अपनाना चाहिये।

अनाथपिण्डिक सेठ ने भी पूछा--"इन आनेवाले झगड़ालू भिक्षुओं के प्रति उसे क्या बर्ताव करना चाहिये ?"

"गृहपति ! तू दोनों ओर दान दे। दोनों ओर दान देकर दोनों ओर धर्म सुन। दोनों ओर धर्म सुनकर, जो यथार्थ धर्मवादी जचे, उनका पक्ष ग्रहण कर।"

प्र. 96 : आदमी दो तरह के कारणों से दुखी हो सकता हैं, अपने भीतरी कारणों से, अपने से बाहर के कारणों से। राग, द्वेष, मोह-जनित दु:ख को हम भीतरी कारणों का परिणाम कह सकते हैं और भोजन वस्त्र के अभाव या सर्दी गरमी के प्रभाव से उत्पन्न दु:ख को हम बाहरी कारणों का परिणाम कह सकते हैं। भगवान् ने भीतरी कारणों से उत्पन्न दु:ख के शमन का क्या उपाय बताया हैं ?

उ. : भगवान ने काय (शारीरिक कृत्यों) में कायानुपश्यना, वेदनाओं (सुख-दुखमय अनुभूतियों) में वेदनानुपश्यना, चित्त (मन) में चित्तानुपश्यना तथा धर्मों (चित्त के विषयों) में धर्मानुपश्यना को प्राणियों की विशुद्धि का, शोक तथा कष्ट के उपशमन का, दु:ख तथा दौर्मनस्य के नाश का, ज्ञान की प्राप्ति का तथा निर्वाण को साक्षात करने का उपाय बताया है।

प्र. 97 : इस काय (शारीरिक कृत्यों) में कायानुपश्यना से क्या मुराद है ?

उ. : काय में कायानुपश्यना करनेवाला भिक्षु आरण्य में, वृक्ष के नीचे, एकान्त-घर में, आसन मार कर, शरीर को सीधा रख, स्मृति को सामने रख बैठता है। वह जानता हुआ छोटी-बड़ी साँस लेता है। वह

सारी काया को अनुभव करते हुए स्वाँस लेना तथा स्वाँस छोडना सीखता है ..काय में उत्पत्ति-धर्म को देखता है, काय में विनाश-धर्म को देखता है।...वह लोक में किसी वस्तु को मैं, मेरा करके ग्रहण नहीं करता।

वह (भिक्षु) चलने, फिरने आदि की सभी क्रियाओं को जागरूक रह कर सकता है।

फिर वही भिक्षु शरीरके बारे में नाना तरह से विचार करता है। लोक में किसी भी वस्तु को, मैं, मेरा करके ग्रहण नहीं करता।

प्र. 98 : वेदनानुपश्यी कैसे होता है ?

उ. : भिक्षु सुख-वेदना (अनुभूति) को अनुभव करते हुए जानता है कि मैं सुख-वेदना अनुभव कर रहा हूँ, दुख वेदना को अनुभव करते हुए जानता है कि दुःख वेदना अनुभव कर रहा हूँ; और असुख-अदुख वेदना को अनुभव करते हुए जानता है कि मैं असुख-अदुख वेदना अनुभव कर रहा हुँ।

प्र. 99 : चित्तानुपश्यी हो कैसे विचरता है ?

उ. : भिक्षु चित्त की जैसी भी अवस्था होती है, उसे जानता है कि इस समय मेरा चित्त स-राग है, अथवा स-मोह है।

प्र. 100 : धर्मानुपश्यी हो कैसे विचरता है ?

उ. : भिक्षु के चित्त के सम्मुख उपस्थित होनेवाले जितने भी विषय (धर्म) हैं, उन सभी के बारे में वह विचार करता है। वह लोक में किसी भी वस्तु को 'मैं, मेरा' करके ग्रहण नहीं करता।

प्र. 101 : इन चारों प्रकार के स्मृति-उपस्थानों का क्या फल होता हैं ?

उ. : हम दिन-रात अपनी हर छोटी-बड़ी क्रिया के साथ आसक्त रहते हैं, हर वेदना (शारीरिक अनुभूति) के साथ आसक्त रहते हैं, चित्त की हर अवस्था के साथ आसक्त रहते हैं, चित्त द्वारा विचार किये जाने

वाले हर विषय के साथ आसक्त रहते हैं। आसक्ति से थकावट उत्पन्न होती है क्लेश उत्पन्न होता है, दुःख उत्पन्न होता है। जिस समय भिक्षु अपनी हर-छोटी बड़ी क्रिया के प्रति, अपनी हर वेदना (अनुभूति) के प्रति, अपने चित्त की हर अवस्था के प्रति, अपने चित्त के सम्मुख उपस्थित होनेवाले हर विषय (धर्म) के प्रति अनासक्त हो विचरता है अर्थात् किसी भी चीज को ' मैं, मेरा ' करके ग्रहण नहीं करता, तो वह आसक्ति के बंधनों से मुक्त हो जाता है, उस की थकावट जाती रहती है, उसके क्लेश का शमन हो जाता है, उस के दुःख का अन्त हो जाता है।

प्र. 102 : हम यह कैसे मान लें कि यह ऐसा होता ही है ?

उत्तर : इस का अभ्यास करके देखा जाय, यही एक मात्र उत्तर दिया जा सकता है।

प्र. 103 : यह जो लिखा है कि जो कायानुपश्यना करता है, उसे जो दस लाभ होते हैं, उन में से कुछ लाभ ये हैं--

(१) वह अनेक प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त करता है।

(२) वह अमानुष विशद दिव्य श्रोत्र दोनों प्रकार के शब्द सुनता हैं, दिव्य शब्दों को भी, मानुष शब्दों को भी, दूर के शब्दों को भी, समीप के शब्दों को भी।

(३) दूसरे सत्वों के दूसरे व्यक्तियों के चित्त को चित्त से जान लेता हैं।

(४) अनेक प्रकार के पूर्व-जन्मों को जान लेता हैं।

उ. : हमारे पास इस का कोई प्रमाण नहीं कि चारों स्मृति-उपस्थानों की भावना (अभ्यास) करनेवाले को यह लाभ होते ही हों। अधिक संभावना इसी बात की है कि नहीं होते।

प्र. 104 : जिस समय भगवान् को ' बुद्धत्व ' लाभ हुआ था तो रात्रि के प्रथम याम में भी वह ' प्रतीत्य समुत्पाद ' का ही मनन करते

रहे थे । रात्रिके मध्यम-याम में भी 'प्रतीत्य समुत्पाद' का ही मनन करते रहे थे और रात्रि के अन्तिम याम में भी 'प्रतीत्य समुत्पाद' का ही मनन करते रहे थे । सो यह 'प्रतीत्य समुत्पाद' का नियम अत्यन्त गम्भीर होना चाहिये । क्या यह किसी तरह सरलता से समझ में आ ही नहीं सकता ?

उ. : निस्सन्देह 'प्रतीत्य समुत्पाद' का नियम गम्भीर है अत्यन्त गम्भीर । एक बार जब भगवान् कुरुदेश में, कुरुओं के निगम कम्मार-दम्म में विहार करते थे, तो आयुष्मान् आनन्द ने भगवान् से कहा--

'आश्चर्य है भन्ते ! अद्‌भुत है भन्ते ! कितना गम्भीर और गम्भीर सा दिखता है यह प्रतीत्य समुत्पाद । परन्तु मुझे वह साफ साफ जान पडता हैं ।'

"ऐसा मत कहो आनन्द ! यह प्रतीत्य समुत्पाद वास्तव में गम्भीर हैं और गम्भीर सा दिखता है । आनन्द ! इस धर्म के न जानने से ही यह जनता उलझी उलझी गांठें पडी रस्सी की तरह है ।

"आनन्द ! यदि कोई पूछे कि क्या बुढापा और मृत्यु सकारण है, तो कहना चाहिये कि 'हाँ सकारण है ।"

"यदि फिर कोई पूछे कि जरा-मरण का क्या हेतु है, तो कहना चाहिये कि जाति (जन्म लेना) ही बुढ़ापे और मृत्यु का हेतु है ।

"आनन्द ! यदि जाति (जन्म) न होता तो क्या बुढ़ापा और मृत्यु होती ?"

"नहीं भन्ते !"

"तो आनन्द 'जाति' ही जरा-मरण का कारण है ।"

"फिर आनन्द ! यदि कोई पूछे कि क्या जाति (जन्म लेना) सकारण है, तो कहना चाहिये कि हाँ सकारण है ।"

"यदि फिर कोई पूछे कि जरा-मरण का क्या हेतु है, तो कहना चाहिये कि भव (समष्टिगत संसार) ही जाति का हेतु है ।"

"आनन्द ! यदि भव (समष्टिगत संसार) न होता, तो क्या जाति (जन्म ग्रहण करना) होती ?"

"नहीं भन्ते।"

"तो आनन्द 'भव' ही जाति का कारण है।"

"आनन्द ! यदि कोई पूछे कि क्या 'भव' सकारण है, तो कहना चाहिये कि हाँ सकारण है।"

"यदि फिर कोई पूछे कि 'भव' का क्या कारण है, तो कहना चाहिये कि उपादान (प्राप्ति के प्रयास) ही भव का कारण है।"

"आनन्द ! यदि उपादान (प्राप्ति के प्रयास) न होते तो क्या भव होता ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"तो आनन्द ! 'उपादान' ही 'भव' का कारण है।"

"आनन्द ! यदि कोई पूछे कि क्या 'उपादान' सकारण है, तो कहना चाहिये कि हाँ सकारण हैं।"

"यदि फिर कोई पूछे कि उपादान का क्या कारण है, तो कहना चाहिये कि तृष्णा उपादान का कारण हैं।"

"आनन्द ! यदि तृष्णा न होती तो क्या उपादान (प्राप्ति का प्रयास) होता ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"तो आनन्द ! तृष्णा ही उपादान का कारण है !"

"आनन्द ! यदि कोई पूछे कि क्या तृष्णा सकारण है, तो कहना चाहिये कि हाँ स-कारण है।"

"यदि फिर कोई पूछे कि तृष्णा का क्या कारण है, तो कहना चाहिये कि वेदना (इन्द्रियों और उन के विषयों के सम्पर्क से जनित अनुभूति) तृष्णा का कारण है।"

"आनन्द ! यदि वेदना न होती, तो क्या तृष्णा होती ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"तो आनन्द ! वेदना ही तृष्णा का कारण है।"

"अब आनन्द ! यदि कोई पूछे कि क्या वेदना सकारण है, तो कहना चाहिये कि हाँ वेदना सकारण है।"

"यदि फिर कोई पूछे कि वेदना का क्या कारण है, तो कहना कि स्पर्श (इन्द्रियों का अपने विषयों के सम्पर्क में आना) वेदना का कारण है।"

"आनन्द यदि स्पर्श न होता, तो क्या वेदना होती ;"

"भन्ते ! नहीं।"

"तो आनन्द ! स्पर्श ही वेदना का कारण है।"

"अब आनन्द ! यदि कोई पूछें कि क्या स्पर्श सकारण है, तो कहना चाहिये कि हाँ स्पर्श सकारण है।"

"यदि फिंर कोई पूछे कि स्पर्श का क्या कारण है, तो कहना चाहिये कि हाँ स्पर्श सकारण है।"

"यदि फिर कोई पूछे कि स्पर्श का क्या कारण है, कहना चाहिये कि षड़ायतन (छह इन्द्रियाँ) स्पर्श का कारण हैं।"

"आनन्द ! यदि षड़ायतन (छह इन्दियाँ) न होती, तो क्या स्पर्श होता ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"तो आनन्द ! षड़ायतन (छह इन्द्रियाँ)ही स्पर्श का कारण हैं।"

"अब आनन्द ! यदि कोई पूछे कि क्या षड़ायतन (छह इन्द्रियाँ) सकारण है, तो कहना चाहिये कि हाँ षड़ायतन सकारण है।"

"यदि फिर कोई पूछे कि षड़ायतन का क्या कारण हैं, तो कहना चाहिये कि नाम रूप (मन–शरीर) षड़ायतन का कारण है।"

"आनन्द ! यदि नाम रूप (मन-शरीर) न होता, तो क्या षड़ायतन (छह इन्द्रियाँ) होतीं ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"तो आनन्द ! नाम–रूप (मन–शरीर) ही षड़ायतन का कारण है।"

"अब आनन्द ! यदि कोई पूछे कि क्या नाम-रूप (मन–शरीर) सकारण हैं, तो कहना चाहिये कि हाँ सकारण हैं।"

"यदि फिर कोई पूछे कि नाम–रूपका क्या कारण हैं, ता कहना चाहिये कि विज्ञान (चित्त) कारण है।"

"यदि विज्ञान (चित्त) न हो, तो क्या नाम–रूप होगा ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"तो आनन्द ! विज्ञान ही नाम-रूप का कारण है।"

"अब आनन्द ! यदि कोई पूछे कि क्या विज्ञान (चित्त) सकारण है, तो कहना चाहिये कि हाँ विज्ञान सकारण हैं।"

"यदि फिर कोई पूछे कि विज्ञान (चित्त) का क्या कारण है, तो कहना चाहिये कि संस्कार विज्ञान (चित्त) का कारण है।"

"यदि संस्कार न हों तो क्या विज्ञान (चित्त) होगा ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"तो आनन्द ! संस्कार ही विज्ञान के कारण हैं।"

"अब आनन्द ! यदि कोई पूछे कि क्या संस्कार सकारण है, तो कहना चाहिये कि हाँ संस्कार सकारण हैं।"

"यदि फिर कोई पूछे कि संस्कारों का क्या कारण है, तो कहना चाहिये कि अविद्या संस्कारों का कारण है।"

"यदि अविद्या न हो, तो क्या संस्कार होंगे ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"तो आनन्द अविद्या ही संस्कारों का कारण है।"

इस प्रकार अविद्या से लेकर जाति जरा-मरण तक यह प्रतीत्य-समुत्पाद की बारह-खडी है। इस में यद्यपि पुनर्जन्म का कहीं उल्लेख नहीं है, तो भी आजकल इस प्रतीत्य-समुत्पाद को भी पुनर्जन्म के चौखटे में फिट बिठाने की परम्परा चल पड़ी हैं। और तो सभी कड़ियाँ सहज हैं, अविद्या तथा संस्कार और विज्ञान ही कुछ दुरुह कड़ियाँ हैं।

"अविद्या" केवल विद्या का अभाव मात्र नहीं हैं, वह इस के अतिरिक्त बहुत कुछ चित्त की अंधकाराच्छन्न अवस्था हे। इस अवस्था में 'अनित्य' को 'अनित्य' करके देखना संभव नहीं, असंतोषकर (दु:ख) को असंतोषकर करके देखना संभव नहीं, 'अनात्म' को 'अनात्म' करके देखना संभव नहीं, इस लिये अविद्या ही संस्कारों (चित्त पर पड़ी हुई छायों) की जनक हैं। जहाँ अविद्या नहीं, वहाँ चित्त पर पड़ी हुई छायें अथवा संस्कार नहीं। संस्कार (चित्त पर पड़ी हुई छायों) का ही दूसरा नाम चित्त (विज्ञान) हैं। इसलिये जहाँ संस्कार नहीं, वहाँ विज्ञान (चित्त) नहीं। चित्त (विज्ञान-मन) ही सब में प्रधान है। सारे नाम-रूप के मूल में चित्त ही रहता है। इस लिये जहाँ विज्ञान (चित्त-मन) नहीं, वहाँ नाम-रूप (मन-शरीर) नहीं। नाम रूप के बाद छह इन्द्रियाँ और छह इन्द्रियों से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा तथा तृष्णा से उपादान, भव आदि की आगे की सारी कड़ियां सहज सुगम हैं।

प्र. 105 : तो इस सारे 'प्रतीत्य-समुत्पाद' में आत्मा का क्या स्थान हैं ?

उ. : कुछ भी नहीं।

प्र. 106 : तो क्या बौद्धधर्म 'आत्मा' को मानता ही नहीं ?

उ. : नहीं।

प्र. 107 तो यह जो शरीर के अन्दर बैठ कर देखता है, सूंघता हैं, सुनता हैं, चखता हैं, स्पर्श करता हैं, यह कौन हैं ?

उ. : शरीर के अन्दर ऐसा कोई नहीं है, जो इन इन्द्रियों रूपी झरोंखों से देखने सूंधने, सुनने, चखने, स्पर्श करने आदि के कार्य करता

हो। तीन चीजों के संयोग से हर कार्य होता है--मन इन्द्रिय तथा विषय के संयोग से। उदाहरण के लिये किसी को एक 'पुस्तक' दिखाई देती है। यदि आदमी का चित्त उपस्थित न हो, यदि उसका ध्यान अन्यत्र हो, तो उसे कभी वह पुस्तक दिखाई नहीं दे सकती। यदि आदमी को आँख न हो, वह अन्धा हो, तब भी उसे पुस्तक दिखाई नहीं देगी, यदि पुस्तक ही न हो, तब भी उसे पुस्तक दिखाई नहीं देगी। इसलिये पुस्तक के दिखाई देने के लिये तीन चीजों का होना आवश्यक है--मन का, इन्द्रिय का और वस्तु का।

प्र. 108 : तो यह जो कहते हैं कि 'आत्मा' आदमी के अन्दर बैठा-बैठा इन इन्द्रियों के माध्यम से देखा-सुना करता है, तो क्या यह ठीक नहीं ?

उ. : नहीं। क्योंकि यदि ऐसे किसी 'आत्मा' को माना जाय, तो उस 'आत्मा' के लिये यह संभव होना चाहिये कि वह अंधे आदमी के कानों के माध्यम से देख सके या बहरे आदमी की आखों के माध्यम से सुन सके। लेकिन किसी 'आत्मा' के लिये भी ऐसा करना सम्भव नहीं होता। इसलिये किसी 'आत्मा' का मानना युक्ति-युक्त नहीं।

प्र. 109 : यदि 'आत्मा' नहीं, तो 'मन' के ही होने का क्या प्रमाण हैं ?

उ. : हम आँख से एक चीज देखते हैं, हाथ से उठाते हैं। इस देखने और उठाने की क्रिया में जो यह एक ताल-मेल बैठा हुआ है, इसी के लिये मन का मानना आवश्यक हैं। बिना 'मन' के दो भिन्न भिन्न क्रियाओं का समन्वय सिद्ध नहीं होता। 'आत्मा' का ऐसा कुछ भी उपयोग नहीं। इसीलिये 'आत्मा' का अस्तित्व असिद्ध है।

प्र. 110 : कुछ लोग कहते हैं, जब आदमी गहरी नींद सो जाता है, ऐसी गहरी कि उसे स्वप्न भी नहीं दिखाई देते हैं, तब कभी-कभी जागने पर वह कहता हैं कि 'आज बड़ी गहरी नींद सोया' आदमी सोते रहने पर यह जो जागता और यह जो उठने पर कहता है कि आज

बड़ी गहरी नींद सोया, यही 'आत्मा' है ?

उ. : थके हुए आदमी को जब गहरी नींद आ जाती है, तो उस की थकावट उतर जाती है, उसे अपने शरीर में एक हलकापन मालूम देता है, उसी से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आज बड़ी मीठी नींद सोया। यह आदमी के मीठी नींद सोने पर उस आदमी से पृथक् जागते रहनेवाला 'आत्मा' कोई नहीं हैं। मन तथा शरीर का नाम ही आदमी है। इस से अतिरिक्त आदमी' और कुछ नहीं है।

प्र. 111 : क्या भगवान बुद्ध के धर्म में भिक्षुओं का ही स्थान प्रमुख है ? क्या भगवानने गृहस्थ उपासकों के लिये कुछ भी नहीं कहा हैं ?

उ. : ऐसा नहीं। भगवान् बुद्ध के उपदेशों में अधिकांश बाते भिक्षुओं और गृहस्थों के लिय समान रूप से उपयोगी हैं। बहुत-सी बाते गृहस्थों को ही सम्बोधित करके कही गई हैं। लेकिन क्योंकि भगवान अधिक समय भिक्षुओं से ही घिरे रहते थे और भिक्षूओं ने ही उनके उप-देशों का संकलन किया था, इसी से यह भ्रम पैदा होता है।

कहते हैं, एक बार भगवान मथुरा और वैरञ्जा के बीच में रास्ते में चले जा रहे थे। उस समय बहुत से गृहपति और गृहपत्नियाँ भी मथुरा और वैरञ्जा के बीच रास्ते में जा रही थीं। भगवान मार्ग से हट कर एक वृक्ष के नीचे बैठे। उन्हें एक वृक्ष के नीचे बैठा देख उन गृहपतियों तथा गृहपत्नियों ने भगवान को नमस्कार किया। भगवान ने उन्हें कहा--

"गृहपतियों! चार प्रकार के सहवास होते हैं : (१) शव (मुर्दा) शव के साथ सहवास करता है। (२) शव देवी के साथ सहवास करता है। (३) देव शव के साथ सहवास करता है (४) देव देवी के साथ सहवास करता है। गृहपतियों! यद पति- पत्नि दोनों सदाचारी न हों, तो शव शव के साथ सहवास करता है। गृहपतियों! यदि स्वामी सदाचारी न हो, किन्तु देवी सदाचारिणी हो, तों शव देवी कें साथ

सहवास करता है। गृहपतियों! यदि स्वामी सदाचारी हो और देवी सदाचारिणी न हो, तो देव शव के साथ सहवास करता है। गृहपतियों! यदि स्वामी तथा देवी दोनों सदाचारिणी हों, देव देवी के साथ सहवास करता है।"

भगवान की दृष्टि में दुराचारी जन मुर्दे के समान थे।

प्र. 112 : यूं तो भगवान के प्रति इतने श्रीमान् जन श्रद्धा-प्रसन्न थे कि उन्हें कभी आहार-कष्ट हुआ हो, ऐसी बात सोची भी नहीं जा सकती। तो भी क्या कभी भगवान को भी आहार-कष्ट हुआ था ?

उ. : हाँ, एक बार वेरञ्जा के ब्राह्मणों ने भगवान को वेरञ्जा में वर्षावास करने का निमंत्रण दिया था। भगवान ने उसे स्वीकार कर लिया था। किन्तु उस समय वेरञ्जा में अकाल पड़ा हुआ था। भिक्षा करके गुज़ारा कर सकना कठिन था। किन्तु हाँ उसी समय उत्तरापथ (पंजाब) के घोड़ों के सौदागर पांच सौ घोड़ों के साथ वेरञ्जा में वर्षा-काल बिता रहे थे। घोड़ों के डेरों में उन्होंने भिक्षुओं को अंजुली (प्रस्थ) भर चावल बांध रखा था।

भिक्षु पूर्वान्हि समय (चीवर) पहन कर पात्र-चीवर ले वेरञ्जा में भिक्षाटन के लिये प्रवेश कर, भिक्षा न पा, घोड़ो के डेरों में जा, प्रस्थ-प्रस्थ भर चावल पाते थे। वे उसे अपने निवास-स्थान पर ला ओखल में कूट कूट कर खाते थे। आयुष्मान् आनन्द प्रस्थ भर चावल सिल पर पीस कर भगवान को देते थे। भगवान उसी का भोजन करते थे।

भगवान को ओखल की आवाज सुनाई दी, तो उन्होंने आनन्द से पूछा--

"आनन्द ! क्या यह ओखल का शब्द है ? "

आयुष्यमान् आनन्द ने सारी बात भगवान को बता दी।

"साधु ! साधु ! आनन्द ! तुम सत्पुरुषों ने (अपने-आपको) जीत लिया। आनेवाली जनता (तो) पुलाव (शालि-मांस-ओदन) चाहेगी। "

"आनन्द ! जिस के द्वारा वर्षावास का निमंत्रण मिला है उसे बिना देखे जाना योग्य नहीं। आनन्द । चलें, वैरञ्ज ब्राह्मण को देखेंगे।"

"अच्छा भन्ते !" कह आयुष्मान् आनन्द ने भगवान का समर्थन किया।

भगवान (चीवर) पहिन पात्र–चीवर ले, आनन्द को अनुगामी बना, जहाँ वैरञ्ज ब्राह्मण का घर था, वहाँ गये। जाकर बिछे आसन पर बैठें। वैरञ्ज ब्राह्मण. . .भगवान के पास आकर, भगवान को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे वैरञ्ज ब्राह्मण को भगवान ने कहा––

"ब्राह्मण ! तुझ से निमंत्रित हो, हम ने वर्षावास किया। अब तुझे देखने आये हैं। हम जनपद चारिका (देशाटन) को जाना चाहते हैं।"

भगवान वेरञ्ज में इच्छानुसार विचर कर, सोरेय्य (सोरों) जिला एटा (उत्तर प्रदेश), संकाश्य (संकास्स), कान्यकुब्ज (कन्नौज) होते हुए, जहाँ प्रयाग–प्रतिष्ठान (पयाग–पतिट्ठान) था, वहाँ गये। जाकर प्रयाग–प्रतिष्ठान में गंगा नदी पार कर, जहाँ वाराणसी थी, वहाँ गये। क्रमशः चारिका करते–करते भगवान जहाँ वैशाली थी, वहाँ पहुँचे।

प्र. 113 : भगवान ने शुद्धोदन राजा के आग्रह करने पर नियम बना दिया था कि बिना माता–पिता की आज्ञा के किसी को प्रव्रजित नहीं किया जायेगा। तो क्या सभी माता-पिता खुशी–खुशी अपने पुत्रों को प्रव्रजित होने की आज्ञा दे देते थे ?

उ. : अनेक माता–पिता नहीं भी देते थे। कभी–कभी किसी–किसी को माता–पिता की अनुमति प्राप्त करने के लिये 'सत्याग्रह भी करना' पड़ता था। एक समय की बात है कि जब वैशाली के नातिदूर कलन्दक ग्राम में सुदिन्न कलन्द पुत्त नामक सेठ का लड़का रहता था। वह बहुत से मित्रों के साथ किसी काम के लिये वैशाली गया। वहाँ उस

ने भगवान का उपदेश सुन, प्रव्रजित होने का संकल्प किया और भगवान से प्रव्रज्या की याचना की। भगवान ने पूछा—

"सुदिन्न ! क्या तुम्हें घर से बेघर हो प्रव्रजित होने के लिये माता-पिता की अनुमति प्राप्त है ?"

"भन्ते ! घर से बेघर हो प्रव्रजित होने के लिये मुझे माता-पिता की अनुमति प्राप्त नहीं है।"

"सुदिन्न ! तथागत ऐसे किसी कुलपुत्र को प्रव्रजित नहीं करते, जिसे माता-पिता की अनुमति प्राप्त न हो।"

"तो भन्ते ! मैं ऐसा कुछ करूँगा कि जिसमें मुझे माता-पिता की अनुमति प्राप्त हो।"

घर जाकर उस ने माता-पिता से प्रव्रजित होने की अनुमति माँगी। जब उन्होंने अनुमति देने में अपनी असमर्थता प्रकट की, तो सुदिन्न वहीं नंगी धरती पर लेट गया—— 'यहीं मेरा मरण होगा, या प्रव्रज्या मिलेगी।'

माता-पिता मजबूर हो गये। तब उन्हों ने सुदिन्न को प्रव्रजित होने की अनुज्ञा दी।

सुदिन्न भगवान् बुद्ध के पास पहुँचा। उन्होंने उसे प्रव्रजित किया।

प्र. 114 : भगवान के समय में अनेक दूसरे मतों के तीर्थङ्कर अर्थात् भिन्न-भिन्न मतों के कई आचार्य थे। उन की तुलना में भगवान् का व्यवहार कैसा था ?

उ. : भगवान् के समयमें जो अनेक दूसरे मतों के तीर्थङ्कर अथवा उन-उन मतों के संस्थापक थे, उन में निगण्ठनाथपुत्र का स्थान विशिष्ट था। उन का एक शिष्य (श्रावक) था-सिंह-सेनापति।

सिंह-सेनापति को जब भगवान् बुद्ध का कीर्ति-शब्द सुनने को मिला, तो उस की इच्छा हुई कि वह भगवान् के दर्शन करने जाये। निगण्ठनाथ-पुत्र ने उसे ऐसा करने से रोका। दो बार तो वह रुक गया,

लेकिन तीसरी बार इच्छा बहुत बलवती होने पर वह भगवान् का दर्शन करने चला ही गया। वहाँ जाकर उसने भगवान् से पूछा --

" भन्ते ! मैंने सुना है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी हैं। अक्रिया के लिये धर्मोपदेश देते हैं। क्या लोगों का ऐसा कथन ठीक है।"

" सिंह ! अक्रियावादी शब्द के एक अर्थ में मुझे अक्रिया-वादी कहा जा सकता है।"

" भन्ते ! किस अर्थ में आप को अक्रिया-वादी कहना ठीक है ?"

" सिंह ! मैं पाप-कर्मो के न करने का उपदेश देता हूँ, इसलिये 'अक्रियावादी' हूँ।"

सिंह सेनापति ने इसी प्रकार के और बहुत से प्रश्न पूछे। जब उस का पूर्णरूप से समाधान हो गया, तो उस ने श्रद्धाभिभूत हो कहा-- " भन्ते ! आप का समाधान अद्भुत है। आप मुझे अपना शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

" सिंह ! सोच-समझ कर अपना निश्चय करें। तुम्हारे जैसे सम्भ्रान्त व्यक्ति को सोच-समझ कर ही कोई भी निश्चय करना ठीक है।"

" भन्ते ! भगवान् के इस कथन से मैं और भी सन्तुष्ट हुआ। भन्ते ! दूसरे सम्प्रदायवाले मुझे श्रावक पाकर सारी वैशाली में पताका उड़ाते कि सिंह सेनापति हमारा श्रावक हो गया है। लेकिन भगवान मुझे कहते हैं— सोच-समझ कर सिंह-सेनापति निर्णय करें। भन्ते ! मैं दूसरी बार भी भगवान की शरण जाता हूँ, धर्म तथा संघ की शरण भी।"

" सिंह ! तुम्हारा घर दीर्घ-काल तक निगण्ठों के लिये प्याओ की तरह रहा है। कहीं ऐसा न समझ बैठना कि अब उन के भिक्षा माँगने आने पर उन्हें भिक्षा नहीं दी जानी चाहिये।"

" भन्ते ! इस से मैं और भी प्रसन्न-मन हुआ। भन्ते मैंने सुना था कि श्रमण गौतम ऐसा कहता है कि हमें ही दान दो, अन्य किसी को दान न दो। लेकिन आप तो मुझे निगण्ठों को भी दान देने को कहते हैं। भन्ते ! हम भी उसे उपयुक्त समझते हैं। भन्ते ! यह मैं तीसरी बार

भगवान की शरण जाता हूँ ।"

यह संवाद भगवान की सहज–उदारता का उत्कृष्ठ उदाहरण है ।

प्र. 115 : क्या किसी नई परिस्थिति में भिक्षु–संघ के लिये कोई और नया नियम बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ी ?

उ. : क्यों नहीं, नियम तो समय–समय पर बनते ही रहे । एक समय भगवान पूर्वाह्न के समय, (चीवर) पहिन कर, पात्र चीवर ले, जहाँ मेण्डक गृहपति था, वहाँ गये । जाकर भिक्षुसंघ-सहित बिछे आसन पर बैठे । तब मेंढक गृहपति ने... गोपालों को आज्ञा दी–

"भणे, एक–एक गाय लो, एक एक भिक्षु के पास खड़े हो जाओ । गर्म-धारवाले दूध का भोजन करायेंगे ।"

गर्मधार के दूध से आनाकानी करते भिक्षु उसे ग्रहण न करते थे ।

भगवान बुद्ध ने आज्ञा दी –– "भिक्षुओ, ग्रहण करो, परिभोग करो ।"

एक ओर बैठे मेंढक गृहपति ने भगवान से कहा––

"भन्ते ! जल रहित, खाद्य–रहित, कांतार (वीरान) मार्ग भी है । बिना पाथेय (पथ का भोजन) के वहाँ से जाना सुकर नहीं । अच्छा हो भन्ते ! भगवान् पाथेय की अनुज्ञा दे ।"

भगवान ने धार्मिक कथा कह, भिक्षुओं को आमंत्रित किया––

"भिक्षुओ, पांच गोरस की अनुज्ञा करता हूँ–दूध, दही, तक्र, (छाछ), नवनीत (मक्खन) और घी (सर्पिष) की ।"

"भिक्षुओ, (कोई–कोई) जल रहित, खाद्य–रहित कांतार–मार्ग हैं (जिन से) बिना पाथेय के जाना सुकर नहीं । भिक्षुओं, अनुज्ञा देता हूँ, तंडुलार्थी (तण्डुल चाहनेवाले) को तण्डुल ले जाने की, मूंग चाहने-वाले को मूंग ले जाने की, उड़द चाहनेवाले को उड़द ले जाने की, लोन चाहनेवाले को लोन (निमक) ले जाने की, गुड़ चाहनेवाले को गुड़ ले

जाने की, तेल चाहनेवाले को तेल ले जाने की, घी चाहनेवाले को घी ले जाने की।"

'भिक्षुओ, (कोई-कोई) श्रद्धालु गृहस्थ भिक्षु के अनुचर गृहस्थ (कप्पिय कारक) के हाथ में (सोना या सोने का सिक्का) देते हैं– 'इस से आर्य को जो विहित है, वह ले देना।' "भिक्षुओं, जो विहित हैं, वह उस से (ले कर) उपभोग करने की अनुज्ञा देता हूँ। किन्तु भिक्षुओं, जात रूप (सोना), रजात (चांदी) का उपभोग करना या संग्रह करना, मैं किसी भी हालत में उचित (विहित) नहीं कहता।"

क्रमश: चारिका करते हुए भगवान जहाँ आपण था, वहाँ पहुँचे।

प्र. 116 : तो दूध, दही, मक्खन आदि ही नहीं, चावल-आदि की गठरी भी बाँध कर ले जाई जा सकती है? हाँ, वर्तमान-युग में रेल में यात्रा करते समय यदि कोई भिक्षु घी, चीनी आटे से बना हुआ बिस्कुटो का टिन साथ में रख ले, तो उस में कोई हर्जा तो नहीं?"

उ. : यदि भगवान जीवित होते तो उन के बुद्धिवाद से यह आशा की जा सकती थी कि वे अवश्य अनुमति दे देते।

प्र, 117 : जिन विषयों में भगवान ने अनुमती नहीं दी है, उन में भिक्षुओ को क्या करना चाहिये।

उ. : उन विषयों में अपनी ही भली-बुरी जैसी भी बुद्धि हैं, उसी का आश्रय लेकर निर्णय करना चाहिये।

प्र. 118 : भगवान ने जात-रूप, रजत के उपभोग करने और संग्रह करने का निषेध किया है, ऐसा होने पर भी क्या भिक्षु जात रूप तथा रजत छू सकता है?

उ. : सोना-चाँदी तो अब छूने को भी किसी को कहाँ मिलता है! पूछा जा सकता है कि क्या भिक्षु रुपये-पैसों को छू सकता है? प्रश्न रुपये-पैसों के छू सकने या न छू सकने का नहीं, प्रश्न रुपये-पैसों के उपभोग करने और संग्रह करने का है। आजकल कुछ भिक्षु, इसी नियम

के उल्लंघन के डर से रुपये-पैसे को या तो कागज के टुकडे के माध्यम से स्पर्श करते हैं, या कपड़े के रुमाल के माध्यम से। वे कागज के रुपयों (नोटों) को प्रायः कागज के माध्यम से ग्रहण नहीं करते, क्योंकि ऐसा करना उन की अपनी दृष्टि में भी कुछ हास्यास्पद-सा हो जाता है। किन्तु धातु के सिक्कों को कागज या कपड़े के माध्यम से ग्रहण करने में धर्म का पालन, मानते हें। हमारी विनम्र सम्मति में भगवान ने "छूने" का निषेध नहीं किया। भगवान ने 'उपभोग" तथा 'संग्रह" का निषेध किया है। एक भिक्षु बिना पैसे का स्पर्श किये भी, उस का जितना चाहे उतना "उपभोग" और "संग्रह" कर सकता है। दूसरा भिक्षु रुपये-पैसे को छूकर भी उस के "उपभोग" और "संग्रह" से विरत रह सकता है।

जो भिक्षु बिना पैसे को छुए, उस का उपभोग और संग्रह करता है, वह उन बड़े बड़े सेठों की तरह है, जिनके कुल रुपये-पैसे का हिसाब उन की ओर से उन के खजानची ही रखते हैं।

रुपया-पैसा अपने में धन नहीं है, न खाया जा सकता हैं न पहना जा सकता है, न ओढ़ा जा सकता है। रुपये-पैसे से जो भोजन वस्त्र आदि चीजें खरीदी जा सकती हैं, वे ही वास्तविक धन हैं। यदि किसी भिक्षु को बिना रुपये-पैसे की मध्यस्थता के उस के जीवन की भोजन वस्त्र आदि आवश्यकतायें प्राप्त हो जाती हों, तो उसे रुपये पैसे के "उपभोग" या "संग्रह" के चक्कर में पड़ने की क्या जरूरत है? किन्तु यदि आधुनिक-युग में ऐसी अवस्था या व्यवस्था में अड़चन हो या न निभती हो तो सहज सरल भाव से रुपये-पैसे का भी "उपभोग" और "संग्रह" किया ही जा सकता हैं। केवल पैसे को "छूने" से बचने के लिये ये जो अनेक टेढे मेढे रास्ते अपनाये जाते हैं, उन की जानकारी किसी भी बुद्धिमान आदमी की प्रसन्नता का कारण नहीं हो सकती।

प्र. 119 : पैसे को 'छूने' से बचने के लिये भिक्षुओं द्वारा कैसे कैसे टेढे मेढे रास्ते अपनाये जाते हैं?

उ. : यदि कोई श्रद्धावान गृहस्थ भिक्षु को कुछ रुपया-पैसा देना

चाहता है, तो वह रुपया–पैसा स्वयं अपने हाथ में न लेकर किसी कप्पिय-कारक को दिलवा देता है। पैसा तो कप्पिय–कारक के पास रहता है, लेकिन उस का हिसाब–किताब भिक्षु के दिमाग में रहता है। कभी–कभी गृहस्थ–दायक के चले जाने पर वह रुपया–पैसा लेकर भिक्षु स्वयं अपने पास भी रख लेता है।

कोई भिक्षु ऐसा भी करते हैं कि रुपया–पैसा तो अपनी अलमारी या मेज की दराज में रखते हैं, लेकिन जब किसी को कुछ देना–दिलाना होता है, तो किसी गृहस्थ लड़के को बुलाकर उस के माध्यम से रुपये–पैसे के लेन–देन का व्यवहार करते हैं।

अपनी समझ में वे रुपये–पैसे को नहीं छुते हैं; लेकिन उन के दिमाग में रुपये–पैसे को छोड़ कर और कुछ रहता ही नहीं है।

प्र. 120 : तो क्या रुपये–पैसे का व्यवहार करने में कोई हर्ज नहीं ?

उ. : यदि भाग्य से किसी भिक्षु को कोई ऐसा सद्गृहस्थ (दायक) मिल जाये, या ऐसी कोई संस्था ही हो, जो उसे रुपये–पैसे के व्यवहार की ओर से निश्चिन्त रख सके, उसकी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, तो किसी भी भिक्षु को इसकी क्या जरूरत है कि वह रुपये–पैसे के व्यवहार के चक्कर में उलझे। वह अपने सारे समय का सदुपयोग आत्म–हित तथा पर–हित सम्बन्धी अनेक कार्यों में कर सकता है। किन्तु यदि ऐसी व्यवस्था न हो, तो सरल–सहज भाव से रुपये–पैसे का व्यवहार करना ही बुद्धिसंगत है।

प्र. 121 : क्या भिक्षु गृह–त्यागी होता है, या संसार–त्यागी ? सच्चा गृह–त्याग किसे कहा जा सकता है ?

उ. : जीते जी कोई भी संसार-त्याग तो कर ही नहीं सकता, भगवान ने भिक्षुओं को "गृहवास छोड़ कर बे–घर हो जानेवाले" की ही संज्ञा दी है। फिर 'गृह–त्याग' का भी महत्व कोई घर से दूर–दूर रहने मात्र में नहीं है। गृहत्याग का सच्चा अर्थ है बुराइयों का त्याग किसी भिक्षु को ही नहीं, भगवान् ने यह बात एक गृहस्थ को ही भली

प्रकार स्पष्ट की थी। एक समय भगवान पूर्वाह्न समय (चीवर) पहन कर पात्र-चीवर लें भिक्षाटन के लिये, आपण में प्रविष्ट हुए। आपण में भिक्षाटन कर, प्राप्त भिक्षा ग्रहण कर, एक जंगल में दिनका समय बिताने के लिये प्रविष्ट हुए। पोतलिय नामक गृहपति भी उसी समय वहाँ पहुंचा और जहाँ भगवान् विराजमान थे, वहीं जाकर खड़ा हो गया।

भगवान ने उसे तीन बार "गृहपति ! आसन विद्यमान है। यदि इच्छा हो, तो बैठो" कहा।

पोतलिय बोला—"हे गौतम ! तुम्हें यह उचित नहीं, तुम्हे यह योग्य नहीं, जो मुझे 'गृहपति' कह कर पुकारते हो।"

"गृहपति ! तुम्हारा आकार-प्रकार, तुम्हारी चर्य्या तुम्हें गृहपति ही सिद्ध करती है।"

"गौतम ! मैंने सारा खेती-बाडी का काम छोड़ दिया है, सारा खरीदना-बेचना बन्द कर दिया है। मेरे पास जो धन, धान्य, सोना, चांदी था, सब पुत्रों को दे दिया है। मैं अब सिर्फ खाने-पहिरने भर से वास्ता रखता हूँ।"

'गृहपति ! तू जो यह समझता है कि तूनें व्यवहार-उच्छेद कर दिया है, तेरा ऐसा समझना ठीक नहीं। वास्तविक व्यवहार-उच्छेद इस तरह नहीं होता।"

"भन्ते ! वास्तविक व्यवहार-उच्छेद कैसे होता है ?"

"गृहपति ! प्राणातिपात (हिंसा) का त्याग व्यवहार-उच्छेद है, चोरी का त्याग व्यवहार-उच्छेद है, मृषावाद (झूठ बोलने) का त्याग व्यवहार-उच्छेद है, चुगली करने का त्याग व्यवहार-उच्छेद है, लोभ का त्याग व्यवहार-उच्छेद है, क्रोध का त्याग व्यवहार-उच्छेद है, तथा अभिमान का त्याग व्यवहार-उच्छेद है।"

भगवान ने अपने इस धर्मानुशासन द्वारा वास्तविक धार्मिक जीवन को प्रतिष्ठित किया।

प्र. 122 : भिक्षाटन करके जीविका चलानेवाले भिक्षु मध्याह्न-पूर्व ही भिक्षा ग्रहण करते रहे होंगे । यदि मध्याह्नोतर उन्हें कुछ प्राप्त हो जाय, तब भी क्या वे उसे ग्रहण करते थे, या अब ग्रहण कर सकते हैं ?

उ. : एक बार केणिय जटिल के मन में प्रश्न पैदा हुआ कि मैं श्रमण गौतम के लिये क्या लिवा ले चलूं ? मध्याह्नोत्तर या रात के समय श्रमण गौतम क्या ग्रहण करते होंगे ? उस ने बहुत-सा पेय पदार्थ तैयार कर, बैहंगी से उठवाया और जहाँ भगवान थे, वहाँ पहुँचा । जाकर, एक ओर खड़े हुए केणिय जटिल ने भगवान को कहा--

'हे गौतम ! यह मेरा पेय-पदार्थ ग्रहण करें ।"

'केणिय ! भिक्षुओं को दे ।"

भिक्षु आगा-पीछे करते ग्रहण नहीं करते थे ।

"भिक्षुओ, अनुज्ञा देता हूँ आठ प्रकार के पेय-पदार्थ के ग्रहण करने की : (१) आम का रस, (२) जामुन का रस, (३) चोच-रस, (४) मोच (केला)- रस, (५) मधु-पेय, (६) मुद्दिक (अंगूर) पेय, (७) सालूक (कोई की जड़) पेय तथा फारुसक (फालसा)-पेय । भिक्षुओ, अनाज के फल-रस को छोड़ कर शेष सभी फल-रसों की अनुज्ञा देता हूँ । ढाक के पत्ते के रस को छोड़ कर सभी पत्तों के रस की अनुज्ञा देता हूँ । महूवे के पुष्प-रस को छोड़, शेष सभी पुष्प-रसों की अनुज्ञा देता हूँ ।

प्र. 123 : अपरान्ह में और रात्रि में जो भिक्षु प्राय: चाय ही चाय पीते देखे जाते हैं, उन का यह व्यवहार किस विधान के अन्तर्गत है ?

उ. : भगवान बुद्ध के समय में 'चाय' थी ही नहीं इसलिये उन का यह व्यवहार किसी विधान के अन्तर्गत नहीं ही आता । जोर जबरदस्ती से लाना ही हो तो 'पत्तों' के रसों की अनुज्ञा के अन्दर आ सकता है । किन्तु चाय तो, पत्तों का रस नहीं होती, वह तो पत्तों का काढ़ा होता है ।

प्र. 124 : क्या ' चाय ' में दूध मिलाया जा सकता है ? या नहीं ?

उ. : इस का भी न कहीं अनुमोदन है और न कहीं निषेध । अपने को सिद्धान्त का अक्षरश: पालन करनेवाला माननेवाले लोग मध्याह्नोत्तर चाय भी नहीं पीते, यदि पीते हैं तो बिना दूध की चाय पीते हैं ।

प्र. 125 : क्या चाय में दूध डाल कर पीने का निषेध है ?

उ. : जहाँ तक विनय (भिक्षु–नियम) की बात है, उस में तो निषेध नहीं । हां व्यवहार में लोग ' चाय ' में दूध मिलाना विनय के विरुद्ध समझते हैं । अब ज्यों–ज्यों लोगों की यह समझ होती जा रही है कि बिना दूध की चाय पीना अस्वास्थ्यकर है, त्यों त्यों अधिकांश अपरान्ह में भी दूध–मिली चाय पीने लग गये हैं ।

विनय में कुछ भी लिखा हो या न लिखा हो, आजकल के भिक्षुओं के अपरान्हके पेय पदार्थ–– चाय, सोड़ा, कोकाकोला आदि हैं ।

प्र. 126 : जब बुद्ध–प्रमुख भिक्षु–संघ के लिये श्रद्धा–भक्ति की भावना बहुत बढ़ गई थी, तब तो ऐसे लोग भी रहे होंगे, जो चाहते होंगे कि भगवान् घर—घर भिक्षा न मांगें, उन्हीं के यहां भिक्षा ग्रहण किया करें ।

उ : हाँ, एक तो रजोमल्ल ही था । उसी ने भगवान् से प्रार्थना की थी कि " भन्ते ! भिक्षु–गण उसी का दिया चीवर, भिक्षा, शयनासन तथा ग्लान-प्रत्यय-भेषज्य-परिष्कार (दवा-पथ्य) ग्रहण करें, औरों का नहीं ।"

भगवान् ने प्रतिवाद किया । बोले–– " रजोमल्ल, तेरी तरह जिन्होंने अपूर्ण-ज्ञान और अपूर्ण-दर्शन से धर्म देखा है, उन को ऐसा ही होता है––क्या ही अच्छा हो, भिक्षु गण मेरा ही दिया चीवर, भिक्षा, शयनासन तथा दवा-पथ्य ग्रहण करें ।"

भगवान नहीं चाहते थे कि उन का भिक्षु-संघ किसी भी एक ' दाता ' का आर्थिक गुलाम बन कर रहे ।

प्र. 127 : भगवान बुद्ध तो अब परिनिर्वृत हो गये। अब यदि कप्पिय (जायज) अकप्पिय (नाजायज) का निर्णय करना हो, तो कैसे किया जाय ?

उ. : इस विषय में भगवान की अनुशासना है— "भिक्षुओ ! जिस बात को मैंने 'यह निषिद्ध है कह कर 'अकप्पिय' नहीं ठहराया, यदि वह अकप्पिय के अनुलोम (अनुकूल) है, कप्पिय के प्रतिकूल है, तो उस बात को तुम्हें अविहित–अकप्पिय–नाजायज ही मानना चाहिये। भिक्षुओ ! जिस बात को मैंने "यह निषिद्ध है" कह कर निषिद्ध नहीं किया, यदि वह कप्पिय के अनुलोम है, और अ-कप्पिय का विरोधी (तो) वह तुम्हें कप्पिय है। भिक्षुओ ! जिसे मैंने 'यह कप्पिय है' (कहकर) अनुज्ञा नहीं दी, यदि वह अकप्पिय के अनुलोम है, और कप्पिय का विरोधी, तो वह तुम्हें कप्पिय नहीं है। भिक्षुओ, जिस बात को मैंने 'यह कप्पिय है' कहकर अनुज्ञा नहीं दी, वह यदि कप्पिय के अनुलोम है, और अकप्पिय का विरोधी, तो वह तुम्हें कप्पिय है।'

यह कप्पिय के अनुलोम (अनुकूल) तथा अकप्पिय के प्रतिकूल का निर्णय आखिर कौन करेगा ? आदमी की अपनी बुद्धि ही न ? महान बुद्धिवादी, महान्–कारुणिक शास्ता कप्पिय–अकप्पिय के विषय में भिक्षु की अपनी बुद्धि के अतिरिक्त और किसे प्रमाण ठहरा सकते थे ?

प्र. 128 : यदि कोई पूछे कि थोड़े में बौद्ध-धर्म क्या है, तो उसे क्या उत्तर दिया जा सकता है ?

उ. : आयुष्मान् सारिपुत्र ने एक बार भिक्षुओं को सम्बोधित कर कहा था– "आयुष्मानो ! जितने कुशल-धर्म हैं, वे सभी चार आर्य-सत्यों में सम्मिलित हैं। कौन से हैं वे आर्य-सत्य ? —दुःख आर्य–सत्य, दुःख–समुदय आर्य-सत्य, दुःख-निरोध आर्य-सत्य, दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपदा आर्य-सत्य।

"क्या है आयुष्मानो ! दुःख आर्य-सत्य ? जन्म भी दुःख है।

जरा (बुढापा) भी दुःख है। मरण भी दुःख है। शोक रोना-पीटना भी दुःख है। मन का संताप, परेशानी भी दुःख है। जो इच्छा करके नहीं पाता, वह भी दुःख है। संक्षेप में पाँच उपादान स्कन्ध ही दुःख हैं।"

प्र. 129 : तो क्या संसार में 'सुख' नाम की वस्तु है ही नहीं ?

उ. : क्यों नहीं ? संसार में जहाँ दुःख-वेदना है, वहाँ सुख-वेदना भी है ही। आजकल 'वेदना' शब्द का अर्थ दुःख, पीड़ा ही किया जाने लगा है। वास्तव में उस का अर्थ अनुभूति मात्र है और वह वेदना (अनुभूति) तीन प्रकार की हो सकती है--दुःख-वेदना, सुख-वेदना, अदुःख-असुख-वेदना; इसी प्रकार 'दुःख' शब्द का भी प्राचीन भाव दुःख-वेदना ही न होकर कुछ ऐसा रहा होगा, जिस में 'सुख-वेदना' को भी 'दुःख' अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सके। हो सकता हैं कि 'दुःख' शब्द का पुराना भाव 'असन्तोषप्रद' शब्द के भाव के समान रहा हो। फिर यह जो कहा गया है कि संक्षेपमें पांच उपादान स्कन्ध ही दुःख हैं। लोग पांच उपादान-स्कन्ध और पांच स्कन्धों में भेद नहीं करते और मान लेते हैं कि पांच स्कन्ध ही दुःख हैं। यदि पांच स्कन्ध ही दुःख हों, तो अर्हत के भी पांच-स्कन्ध होते हैं, वह भी 'इसी छह फूट के शरिर में' दुःख का क्षय, कैसे कर सकता हैं ? ठीक बात यह है कि पांच स्कन्धों के प्रति आसक्ति उत्पन्न होने से दुःख की उत्पत्ति होती है, पांच स्कन्धों के प्रति आसक्ति का क्षय होने से दुःख का क्षय होता है। पांच स्कन्ध स्वयं अपने में न दुःख है, न दुःख का क्षय।

प्र. 130 : पांच स्कन्ध कौन-से हैं ?

उ. : रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध संस्कार-स्कन्ध तथा विज्ञान-स्कन्ध। रूप-उपादान-स्कन्ध क्या है ? चार महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) तथा चारों महाभूतों से उत्पन्न होनेवाले रूप। यहाँ पृथ्वी से पृथ्वी पन (घनत्व) का भाव ग्रहण करना चाहिये, जल से जलत्व अथवा तरलपन का भाव ग्रहण करना चाहिये, अग्नि से उष्णत्वका भाव ग्रहण करना चाहिये तथा वायु से वायुपन (उड़ा ले जाने की शक्ति) का भाव ग्रहण करना चाहिये। ये चारों महाभूत प्रत्येक प्राणी के शरीर

में भी हैं और शरीर से पृथक शेष–बाह्य जगत में भी है। शरीर के भीतर के चारों महाभूत तथा शरीर से पृथक बाह्य जगत के महाभूत मिलाकर ही समष्टि रूप से चारों महाभूत हैं।

प्र. 131 : तो क्या व्यक्ति पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त कुछ नहीं ?

उ. : नहीं, व्यक्ति पाँचों स्कन्धों के अतिरिक्त कुछ नहीं। जैसे काठ, बल्ली, तृण और मृतिका से घिरे आकाश (खाली जगह) को 'घर' कहते हैं, उसी प्रकार अस्थि (हड्डी), स्नायु, मांस और चर्म से घिरे आकाश (ख़ाली जगह) को 'व्यक्ति' कहते हैं।

प्र. 132 : यह जो अन्य मतावलम्बी पृथ्वी आदि चार तत्वोंके साथ एक पांचवाँ आकाश तत्व भी मानते हैं, तो क्या यह ठीक नहीं ?

उ. : 'आकाश' को एक धातु तो माना जा सकता है, किन्तु 'महाभूत' नहीं, क्योंकि चारों महाभूतों के अभाव का ही दूसरा नाम 'आकाश' हैं।

प्र. 133 : तब इन चारों महाभूतों से शेष स्कन्धों की उत्पत्ति कैसे होती हैं ?

उ. : यदि आदमी की आँख ठीक हो, लेकिन बाह्य-रूप सामने उपस्थित न हों, तो उस से चक्षु-विज्ञान उत्पन्न नहीं होता। जब आदमीं की आँख ठीक होती हैं और बाह्यरूप सामने आते हैं, तभी चक्षु-विज्ञान उत्पन्न होता हैं।

प्र. 134 : तो क्या चक्षु और रूप दोनों के समन्नाहार से दोनों के एकीकरण मात्र से चक्षु--विज्ञान उत्पन्न हो सकता है ?

उ. : नहीं। चक्षु-विज्ञानकी उत्पत्ति के लिये केवल चक्षु तथा रूपका समन्ना-हार होना ही पर्याप्त नहीं, उसके साथ विज्ञान का भी होना अनिवार्य है। चक्षु, रूप तथा विज्ञान(चित्त) तीनों की एक समय, एक स्थान पर, सम्मिलित उपस्थिति होने से ही चक्षु-विज्ञान उत्पन्न होता हैं।

प्र. 135 : तो यह विज्ञान (चित्त) कैसे उत्पन्न होता हैं ?

उ. : चक्षुर्विज्ञान आदि छओं विज्ञान तो चक्षुरादि छओं इन्द्रियों तथा उन के रूप आदि छओं विषयों के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं, उन के बिना उत्पन्न होते ही नहीं, किन्तु इन चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों में सहायक मन-विज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। कहीं तो संस्कारों को विज्ञान का जनक कहा गया है और कहीं विज्ञान को ही संस्कारों का जनक कहा गया है।

प्र. 136 : तब भौतिक--वाद में और बौद्ध--धर्म में क्या अन्तर रहा ?

उ. : भौतिकवाद स्पष्ट रूप से महाभूतों से ही विज्ञान की उत्पत्ति मानता है, बौद्धधर्म की स्थिति यह है कि यह भी नहीं कहता कि चारों महाभूतों से ही 'विज्ञान' की उत्पत्ति हुई है और यह भी नहीं बताता कि 'विज्ञान' की उत्पत्ति आखिर कैसे हुई है ? "भिक्षुओ, यह संसार बिना सिरे का है, इस के पूर्व-सिरे का पता नहीं लगता।"[१] जो चक्षुविज्ञान के साथ का 'रूप' है, वही रूप-उपादान-स्कन्ध है, जो उस के साथ की 'वेदना' (अनुभूति) है, वही वेदना-उपादान-स्कन्ध है, जो उसके साथ की 'संज्ञा' है, वही संज्ञा-उपादान-स्कन्ध है, जो उस के साथ का 'विज्ञान' है, वही विज्ञान–उपादान–स्कन्ध है। इसी प्रकार इन पाँचों उपादान–स्कन्धों का सन्निपात, एकीकरण होता है। भगवान् ने कहा ही है— 'ये पाँचों उपादान–स्कन्ध प्रतीत्य–समुत्पन्न हैं। प्रत्ययों के होने से ही इन की उत्पत्ति होती है, न होने से नहीं होती। इन पाँचों उपादान–स्कन्धों में जो राग है, जो आलय है, जो आसक्ति है वही दुःख-समुदय है और जो इन पांच उपादान–स्कन्धों में राग, आलय अथवा आसक्ति का हटाना है, वही दुःख–निरोध है।

इस प्रकार पांचों स्कन्ध अपने में न दुःख हैं, न दुःख का निरोध, उन के प्रति आदमी के राग, आलय, आसक्ति से उत्पन्न जो पाँच उपादान–स्कन्ध हैं, वे ही दुःख हैं और उन के प्रति जो राग हो, जो आलय हो, जो आसक्ति हो, उस का हटा लेना ही दुःख– निरोध है। यही बौद्धधर्म का 'मोक्ष' है और यही बौद्धधर्म का 'निर्वाण' है।

प्र. 137 : यह जो अभिधर्म परम्परा में आदमी का विश्लेषण रूप, चित्त तथा चेतसिकों के तौर पर किया गया है, इस का उक्त विश्लेषण से कैसे मेल बैठता है ?

उ. : रूप–स्कन्ध तो दोनों जगह समान ही है, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार स्कन्धों को भी मिलाकर चैतसिकों का नाम दिया गया है, जिन की संख्या ५२ (बावन) निश्चित की गई है और चित्त, विज्ञान, मन ये शब्द ही नाना हैं। उन में अर्थ का नानत्व नहीं है।

प्र. 138 : चैतसिक किन्हें कहते हैं और चित्त किसे ?

उ. : जिन धर्मो के होने से 'चित्त' होता है, उन्हें 'चैतसिक' कहते हैं, और 'चैतसिकों के होने से जिस एक धर्म की उत्पत्ति होती है, उसे 'चित्त' कहते हैं। चैतसिक तथा चित्त दोनों ही सहजातधर्म हैं।

प्र. 139 : आत्मवाद को अस्वीकार कर, केवल पाँच स्कन्धों को स्वीकार करना और उन पाँच स्कन्धों के प्रति जो राग, आलय, आसक्ति है, उसी के त्याग–मात्र को 'मोक्ष' या 'निर्वाण' मानना सचमुच अध्यात्म के क्षेत्र में बड़ा ही क्रान्तिकारी दृष्टिकोण अपनाना है। क्या भगवान् बुद्ध का सामाजिक मामलों में भी ऐसा ही कुछ क्रान्तिकारी दृष्टिकोण था ?

उ. : हाँ, क्यों नहीं ? जिस समय ब्राह्मण ब्राह्मणों के ही सर्वोत्कृष्ट-वर्ण होने का दावा करते थे, उस समय सभी वर्णों की (समान) शुद्धि का प्रतिपादन करना ऐसा ही क्रान्तिकारी दृष्टिकोण था। एक बार ब्राह्मणों के बहुत बहुत आग्रह करने पर आश्वलायन-माणवक भगवान् से इसी विषय में चर्चा करने के लिये भगवान् के पास गया था। जाकर उसने पूछा––

"हे गौतम ! ब्राह्मण ऐसा कहते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण हैं, दूसरे वर्ण छोटे हैं, ब्राह्मण ही शुक्ल–वर्ण हैं। दूसरे वर्ण कृष्ण हैं। ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, दूसरे वर्ण नहीं। ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, मुख से उत्पन्न, ब्रह्मज, ब्रह्मनिर्मित, ब्रह्म के उत्तराधिकारी हैं, इस

विषय में आप का क्या मत है ? "

भगवान ने अपने मत के समर्थन और ब्राह्मणवाद के पक्ष के खण्डन में एक नहीं, दस मुंह-तोड़ तर्क दिये थे। उन्होंने कहा-

(१) जब ब्राह्मणों की ब्राह्मणियाँ ऋतुमती, गर्भिणी, जनन करती, (शिशुओं को दूध) पिलाती देखी जाती हैं, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि ब्राह्मण ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, मुख से उत्पन्न है ?

(२) जब 'यवन' और कम्बोज तथा दूसरे सीमान्त-देशों में दो ही वर्ण होते हैं- आर्य (स्वतंत्र) तथा 'दास' (गुलाम)। आर्य दास हो सकता है और दास आर्य। इस से सिद्ध हुआ कि अन्यत्र 'ब्राह्मण' वर्ण होता ही नहीं।

(३) जब ब्राह्मण भी हिंसक, चोर, दुराचारी होने से अन्य वर्णों के लोगों के समान ही दुर्गति को प्राप्त होता है, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि अन्य वर्णों की अपेक्षा उसकी कुछ अपनी विशेषता होती है।

(४) जब ब्राह्मण भी हिंसा, चोरी तथा दुराचारादि से विरत होने पर अन्य वर्णों के लोगों के समान ही सद्गति को प्राप्त होता है, तो भी यह कैसे कहा जा सकता है कि अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मण की कुछ अपनी विशेषता होती है।

(५) जब ब्राह्मणों के समान ही अन्य वर्णों के लोग भी मैत्रीचित्त की भावना कर सकते हैं, तो भी यह कैसे कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों की कुछ अपनी विशेषता है।

(६) जब ब्राह्मणों के समान ही अन्य वर्णों के लोग भी स्नान-चूर्ण ले जाकर नदी पर अपने अपने शरीर का मैल उतार सकते हैं तब भी यह कैसे कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों की कुछ अपनी विशेषता? है

(७) जब ब्राह्मण आदि द्विज-वर्णो द्वारा दो लकड़ियोंके रगड़े जाने से वैसी ही उपयोगी आग पैदा होती है, जैसी चाण्डाल, निषाद, बसोर, रथकार कुल सदृश नीच कुलों के लोगोंद्वारा दो लकड़ियों की रगड़ से उत्पन्न होनीवाली आग। दोनों अग्नियों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं

होता, तो भी यह कैसे कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों की कुछ अपनी विशेषता होती है ?

(८) जब क्षत्रिय-कन्या के ब्राह्मण के साथ सहवास करने से अथवा ब्राह्मण-कन्या क्षत्रिय के साथ सहवास करने से जो संतान पैदा होती है, वह 'ब्राह्मण' या 'क्षत्रिय' ही कहलाती है, अर्थात मानवी सन्तान ही होती है, कुछ गदहे और घोड़ी के मेल से जैसे न 'गदहा' और न 'घोडा' बल्कि 'खच्चर' जन्म ग्रहण करता है, ऐसे दोनों से भिन्न कोई तीसरे वर्गका प्राणी उत्पन्न नहीं होता । ऐसा होनेपर भी, यह कैसे कहा जा सकता है कि ब्राह्मण की अपनी विशेषता होती हैं ?

(९) जब ब्राह्मण भी दो ब्राह्मण जमुए–भाइयों में से जो मंत्र-धर और शीलवान होता हैं, उसी का आदर करते हैं, उसी का सत्कार करते हैं और जो मंत्रधर तथा शीलवान् नहीं होता, उस का नहीं करते हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि जो जन्म से ब्राह्मण है, उस की कुछ विशेषता है ?

(१०) जब ब्राह्मण भी ऐसे दो ब्राह्मण-तरुणों में से उसी का अधिक आदर सत्कार करते है, जो मन्त्र-धर होने के साथ साथ शिलवान् भी होता है, न कि उस का जो मंत्र-धर ही होता हैं, किन्तु शिलवान् नहीं होता, तो यह कैसे कहा जा सकता है, कि जन्म से ब्राह्मण होने की कुछ विशेषता है ?

आश्वलायन माणवक को पता भी नहीं लगा और वह भगवान बुद्ध की तर्क–पूर्ण उक्तियों को कुछ इस तरह स्वीकार करता चला गया कि उसे भी मानना पड़ा कि सभी वर्ण समान रूप वे 'शुद्ध' या 'अशुद्ध' होते हैं, ब्राह्मण–वर्ण की कुछ भी विशेषता नहीं होती ।

तब अश्वलायन चुप हो गया, मूक हो गया, हत्प्रभ हो गया अधोमुख–चिन्तित हो कुछ सोचने सा लगा ।

प्र. 140 : कुछ लोगों का कहना है कि भगवान बुद्ध 'आत्मा' तथा 'परमात्मा' को न मानते रहे हों ऐसी बात नहीं । उन से जब 'आत्मा'

तथा 'परमात्मा' के बारे में पूछा जाता था, तो वे मौन रहते थे ।

उ. : यह आत्मवादियों तथा परमात्मावादियों का किया हुआ मिथ्या प्रचार–मात्र है । भगवान बुद्ध ने स्पष्ट कहा है कि भिक्षुओ, यह बात बिल्कुल असम्भव है, इसके लिये बिल्कुल गुंजाइश नहीं कि कोई आँख वाला आदमी किसी भी 'धर्म' को आत्मा करके ग्रहण करे । ईश्वर या परमात्माके बारे में भी उन्होंने कहा कि "भिक्षुओं, कुछ लोग कहते हैं कि इस सृष्टि की रचना ईश्वर परमात्मा ने की हैं, भिक्षुओ तब तो वह परमात्मा बड़ाही अकारुणिक होगा, जिस ने ऐसी दुःखपूर्ण सृष्टि बनाई हैं ।"

प्र. 141 : तो क्या भगवान् किन्हीं विषयों में भी चुप नही रहे ?

उ. : क्यों नहीं रहे । किन्तु ऐसे-विषयों की संख्या दस है और निश्चित हैं । हमें कोई अधिकार नहीं कि हम उन में अपनी मर्जी के विषय बढ़ाते चले जायें ।

प्र. 142 : वे प्रश्न कौन से हैं, जिनका उत्तर भगवान् ने नहीं दिया हैं अर्थात् जिन विषयों को अव्याकृत (बे कहे)रखा हैं ?

उ. : जिस समय पोट्ठपाद ने प्रश्न किया—'भन्ते ! क्या लोक नित्य हैं ?', भगवान् ने कहा– 'पोट्ठपाद ! मैं ने कब कहा कि लोक नित्य हैं । जिस समय पोट्ठपाद ने प्रश्न किया—'भन्ते ! क्या लोक अनित्य हैं ?' भगवान् ने कहा—पोट्ठपाद ! मैंने कब कहा कि लोक अनित्य है । जिस समय पोट्ठपाद ने प्रश्न किया—'भन्ते ? क्या लोक अन्तवान है ?' भगवान् ने कहा—"पोट्ठपाद ! मैंने कब कहा कि लोक अन्तवान हैं ! इसी प्रकार, मैंने कब कहा कि लोक अन्–अन्तवान् हैं, मैंने कब कहा कि जीव और शरीर एक ही हैं, मैंने कब कहा कि जीव और शरीर भिन्न–भिन्न हैं, मैंने कब कहा कि मरने के बाद तथागत रहते हैं, मैंने कब कहा कि मरने के बाद तथागत नहीं रहते हैं, मैंने कब कहा कि मरने के बाद तथागत रहते भी हैं और नहीं भी रहते है, मैने कब कहा

कि मरने के बाद तथागत नहीं रहते हैं और नहीं नहीं भी रहते हैं।"

पोट्ठपाद ने प्रश्न किया—"भन्ते ! आप ने इन बातों को बे-कही (अव्याकृत) क्यों रखा हैं ?"

"पोट्ठपाद ! ये बातें न अर्थ-युक्त हैं, न धर्म-युक्त हैं, न आदि ब्रह्मचर्य (श्रेष्ठ जीवन) के लिये है, न निर्वेद (वैराग्य) के लिये हैं, न (दुःख) निरोध के लिये है, न उपशमन (शान्ति) के लिये हैं, न अभिज्ञा के लिये है, न संबोधि (परम ज्ञान) के लिये है, न निर्वाण के लिये हैं।"

"भन्ते ! भगवान ने क्या क्या व्याकृत किया है ?"

"पोट्ठपाद ! यह दुःख है, (इसे) मैंने व्याकृत किया है। 'यह दुःख-समुदय है' (इसे) मैंने व्याकृत किया है, यह दुःखनिरोध है, इसे मैंने व्याकृत किया है, यह दुःखनिरोध-गामिनी-प्रतिपदा (दुःखनिरोध) की ओर ले जानेवाला मार्ग हैं, इसे मैं ने व्याकृत किया है।"

"भन्ते ! भगवान् ने इसे क्यों व्याकृत किया है ?"

"पोट्ठपाद ! यह अर्थ-उपयोगी, धर्म-उपयोगी, आदि-ब्रह्मचर्य-उपयोगी है...निर्वाण के लिये है। इस लिये मैंने इसे व्याकृत किया हैं।"

भगवान् नहीं चाहते थे कि जब आदमी इसी जन्म में दुःख के अन्त करने के उद्देश को प्राप्त कर सकता हैं तो उस की शक्ति इस प्रकार के व्यर्थ के प्रश्नों की उलझन में नष्ट हो।

प्र. 143 : तो क्या भगवान् इसी जन्म में दुःख का अन्त कर सकने की सम्भावना को मानते थे और उसी पर जोर देते थे ?

उ. : हाँ, भगवान ने एक बार का अनुभव इस प्रकार बताया है—एक सयय महानाम ! मैं राजगृह में गृध्र कूट पर्वत पर विहार करता था। उस समय बहुत से जैन-साधु ऋषिगिरि की काल-शिला पर आसन का त्याग कर, खड़े-खड़े नाना कष्ट झेल रहे थे। मैंने जाकर उन जैन-साधुओं से कहा—"आयुष्मानो ! तुम आसन का त्याग कर खड़े

खड़े नानाविध कष्टों को झेल रहे हो ?" जैन–साधुओं का उत्तर था—"आयुष्मान ! हमारे तीर्थङ्कर (महावीर स्वामी) सर्वज्ञ हैं। उन का कहना है कि पहले (जन्म) के किये हुए पाप–कर्मों का दुष्कर तपस्या द्वारा नाश करो और जो इस समय का मन, वाणी तथा कर्म का संयम है, वह भविष्य के लिये पाप–कर्म से विरत रहना हुआ। इस प्रकार पुराने कर्मों का तपस्या से अन्त होने से और नये कर्मों के न करने से, भविष्य में चित्त आस्रव–मुक्त होगा। भविष्य में आस्रव न होने से, कर्म का क्षय होगा, कर्म–क्षय से दुःख का क्षय होगा। . . .हमें यह विचार रुचता है। हम इस विचार से सन्तुष्ठ हैं।"

"ऐसा कहने पर महानाम ! मैंने उन साधुओं से पूछा—'आयुष्यमानों ! क्या तुम निश्चयात्मक रूप से जानते हो कि हम पहले थे, ऐसा नहीं था कि हम पहले नहीं थे ?"

"आयुष्मान् ! नहीं।"

"आयुष्मान ! क्या तुम जानते हो कि हम ने पूर्व (–जन्म) में निश्चयात्मक रूप से पाप–कर्म किया ही है, ऐसा नहीं है कि न किया हो ?"

"आयुष्मान् ! नहीं।"

"आयुष्मानो ! क्या यह जानते हो कि अमुक–अमुक पाप–कर्म किया है ?"

"आयुष्यमान् ! नहीं।"

"आयुष्यमानो ! क्या यह जानते हो इतना दुःख–नाश हो गया, इतना दुःख–नाश करना है, इतना दुःख–नाश होने से समस्त दुःख का नाश हो जायगा ?"

"आयुष्यमान् ! नहीं।"

इस प्रकार भगवान् ने दिखाया कि (पूर्व) जन्म के बारे में बिना किसी भी प्रकार की जानकारी के, उस के आधार पर और भावी–जन्म

के बारे में भी किसी भी प्रकार की जानकारी के अभाव में, उस के भी आधार-पर जो जीवन-चर्य्या तै की जाती है, वह बालू की दीवार के समान निराधार ही है ।

प्र 144 : भगवान् व्यर्थ के काय-क्लेश के तो विरोधी थे और आराम-पसन्दी के जीवन के भी । पुराने समय में जो यज्ञ-याग होते थे, उन के प्रति भगवान् का क्या भाव था ?

उ. : पुराने समय के यज्ञ 'देवताओं को-बलि' देने के बहाने से किये जानेवाले 'आमोद-सम्मेलन' मात्र होते थे । उनमें नृशंसता-पूर्वक जो पशुओं की बलि दी जाती थी, वह भगवान् को सर्वथा अमान्य थी । ऐसा होने पर भी भगवान् ने जनता के "आमोद-सम्मेलनों" का पूर्ण-रूप से खण्डन नहीं किया । ऐसा करने की जरूरत भी नहीं थी । आखिर जनता को भी कुछ न कुछ आमोद-प्रमोद-विनोद तो चाहिये ही ।

प्र. 145 : क्या भगवान् कभी भी किसी बात का सर्वांश में खण्डण नहीं करते थे ?

उ. : कभी करते भी थे, कभी नहीं भी करते थे । कभी-कभी विपक्षी से प्रश्न पूछ कर उसी के मुंह से अपनी बात उगलवा लेते थे । एक बार जब सोण-दण्ड ब्राह्मण भगवान् से शास्त्रार्थ करने पहुँचा तो भगवान् ने ही पहले प्रश्न किया—

"ब्राह्मण ! कितने गुणों (अंगों) के होने से ब्राह्मण किसी को ब्राह्मण स्वीकार करते हैं ?"

"गौतम ! पांच गुणों (अंगों) के होने से ब्राह्मण किसी को ब्राह्मण स्वीकार करते हैं ।"

"कौन से पाँच ?"

"(१) ब्राह्मण माता-पिता की ओर से सुजात हो, (२) (वेद-) मंत्रधारी हो, (३) सुवर्ण हो, दर्शनीय हो, (४) शीलवान् हो, (५) पण्डित हो, मेधावी हो ।"

"ब्राह्मण ! इन पाँच गुणों (अंगों) में से किसी एक को छोड़कर, क्या केवल चार अंगों से युक्त किसी व्यक्ति को भी 'ब्राह्मण' कहा जा सकता है।"

"गौतम ! कहा जा सकता है। इन पाँच अंगों में से हम 'सुवर्ण' होने की बात को छोड़ देते हैं। रूप-सौन्दर्य्य क्या करेगा ? रूप-सौन्दर्य्य को छोड़ शेष चार अंगोंवाले को भी 'ब्राह्मण' कहा जा सकता है।"

"ब्राह्मण ! इन चार अंगो में से किसी एक को छोड़, क्या केवल तीन अंगों से युक्त किसी व्यक्ति को भी 'ब्राह्मण' कहा जा सकता है।"

"गौतम ! कहा जा सकता है। इन चार अंगों में हम 'मन्त्र धर' होने की बात को छोड़ देते हैं। (वेद) मन्त्र क्या करेंगे ? 'मन्त्र-धर' होने की बात छोंड़ शेष तीन अंगोंवाले को भी 'ब्राह्मण' कहा जा सकता है।"

"ब्राह्मण ! इन तीन अंगों में से भी किसी एक को छोड़, क्या केवल दो अंगों से युक्त किसी व्यक्ति को 'ब्राह्मण' कहा जा सकता है ?"

"गौतम ! कहा जा सकता है। इन तीन अंगो में से हम जाति (जन्म) को छोड़ते हैं। जाति (जन्म) क्या करेगा ? जाति (जन्म) की बात छोड़ शेष दो अंगों से युक्त व्यक्ति को भी 'ब्राह्मण' कहा जा सकता है ?"

"ब्राह्मण ! इन दो अंगों में सें एक अंग को छोड़, एक अंग से युक्त को भी क्या 'ब्राह्मण' कह सकते हैं।"

"गौतम ! नहीं। शील तथा प्रज्ञा दोनों का होना अनिवार्य है, । शील से प्रज्ञा प्रक्षालित होती है, प्रज्ञा से शील। जहाँ शील है, वहाँ प्रज्ञा है, जहाँ प्रज्ञा है, वहाँ शील। हे गौतम ! जैसे कोई आदमी एक हाथ से दूसरे हाथ को धोये, उसी प्रकार शील तथा प्रज्ञा परस्पर एक-दूसरे का प्रक्षालन करते हैं।"

इस प्रकार भगवान बुद्ध ने सोण-दण्ड 'ब्राह्मण' के मुंह से ही अपनी बात कहलवा ली। उन्हों ने 'ब्राह्मण' शब्द की जाति-गत परिभाषा

अस्वीकार कर, एक 'ब्राह्मण' के ही मुंह से ब्राह्मण शब्द की गुण-वाचक परिभाषा स्वीकार करा ली। भगवान् की अपनी देशना है-जन्म न किसी को 'ब्राह्मण' बनाता है, न 'शुद्र'। कर्म ही आदमी को 'ब्राह्मण' या 'शुद्र' बनाता है।

प्र. 146 : **जब भगवान् के दर्शनार्थ आने-जानेवाले लोगों की संख्या अधिक हो गई होगी, तब तो बहुत-से लोगों को भगवान का दर्शन करने में, उन से भेंट करने में भी कठिनाई होने लगी होगी ?**

उ. : हाँ। एक समय भगवान वैशाली में महावान् की कूटागार-शाला में विहार करते थे और आयुष्मान नागित भगवान् की सेवा में रहते थे। उस समय कोसल-मगध के ब्राह्मण दूतों के मन में भगवान के दर्शन करने की इच्छा हुई। उन्होंने आयुष्मान् नागित के पास पहुँच पूछा-

'हे नागित ! इस वक्त आप गौतम कहाँ विहरते है ? हम उनके दर्शन करना चाहते हैं।"

" आयुष्मानों ! भगवान के दर्शन का यह समय नहीं है। भगवान् ध्यान में है।"

और भी कई जनों को नागित ने यही उत्तर दिया। तब श्रमण बननेवाला सिंह आयुष्मान नागित के पास पहुँचा। आयुष्यमान् नागित ने उसे ही कहा—"तूही जाकर भगवान् की अनुमति प्राप्त कर।'

सिंह श्रमणोद्देश जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान को अभिवादन कर एक ओर खड़ा हो गया। उसने भगवान् से प्रार्थना की—

"भन्ते! यह बहुत सी परिषद भगवान् के दर्शन करना चाहती है। अच्छा हो, यदि यह परिषद भगवान् का दर्शन कर पाये।"

" तो सिंह ! विहार की छाया में आसन बिछा।"

तब भगवान् विहार से निकल कर, विहार की छाया में बिछे आसन पर बैठे।

दर्शनार्थ आये हुए लोगो में से एक ने पूछा —

'भन्ते ! जो लोग आप की देख-रेख में श्रेष्ठ जीवन यापन करते हैं, क्या उन का उद्देश्य दिव्य=रूप देख सकना या दिव्य—शब्द सुन सकना ही होता है ?"

"महालि ! नहीं, इन से बढ़कर दूसरे धर्म हैं, जिन का साक्षात् अनुभव प्राप्त करने के लिये लोग मेरी देख—रेख में श्रेष्ठ-जीवन व्यतीत करते हैं।"

"भन्ते ! वे कौन से ऐसे धर्म हैं, जिन का साक्षात् अनुभव प्राप्त करने के लिये लोग आप की देख—रेख में श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करते हैं।

"महालि ! वे धर्म हैं—(१) श्रोतापन्न होना, (२) सकृदागामि होना, (३) अनागामि होना, तथा (४) अर्हत् होना।"

प्र. 147 : स्रोतापन्न आदि होने से क्या अभिप्राय है ?

उ. : इन स्रोतापन्न आदि होने के सांदृष्टिक-अर्थ भी किये जाते हैं और सम्परायिक-अर्थ भी। भगवान् बुद्ध की अपनी देशना के अनुसार उन का धर्म सांदृष्टिक (इह लोक सम्बन्धी) था, इसी लिये स्रोतापन्न आदि के सांदृष्टिक अर्थ अधिक युक्ति—संगत हैं। स्रोतापन्न का अर्थ है आर्य—जन अथवा श्रेष्ठ—जन, ऐसा श्रेष्ठ--जन, जिसका कभी—न कभी सम्पूर्ण—रूप ने चित्त मलों से विमुक्त होना तै है। दस संयोजन (चित्त के बंधन) ही चित्त के मल हैं। जिस आर्यजन के प्रथम तीन संयोजनों (सक्काय—दृष्टि, विचिकित्सा, तथा शीलव्रत परामाश) का पूर्ण रूप से क्षय हो गया है, उसे स्रोतापन्न कहते हैं। सकृदागामी शब्द सत्कृत--गामी से मिलता—जुलता है। सकृदागामी शब्द का सम्परायिक अर्थ किया जाता है, इस लोक में एक बार और आनेवाला। सांदृष्टिक अर्थ हो सकता हैं, सत्कृतगामी (शुभ कर्मों का अनुगामी)। पहले तीन संयोजनों के साथ—साथ जिस के दो और संयोजन (काम—राग तथा व्यापाद) नष्ट हो गये हों, वह सकृदागामी अथवा सत्कृतगामी कहलाता है। अनागामी का भी सांदृष्टिक अर्थ तो यही हो सकता है कि

फिर नये सिरे से पतनोन्मुख न होनेवाला, किन्तु अनागामी का सम्परायिक अर्थ किया जाता है, फिर इस लोक में लौट कर न आनेवाला, वहीं किसी 'ब्रह्मलोक' से ही निर्वाण प्राप्त हो जानेवाला। यह 'ब्रह्मलोक' योगी की किसी चित्तावस्था का भी पर्याय हो सकता है। अनागामी के फिर पाँच प्रकार के भेद किये गये हैं-- अन्तरापरिनिर्वायी, उपहत्य-परिनिर्वायी आदि। चौथी और अन्तिम अवस्था तो 'अर्हत्' ही है। अर्हत् ही वह श्रेष्ठ आर्यजन है, जिस के दसों-संयोजन नष्ट हो गये हैं। उस का सांदृष्टिक अर्थ तो यही है कि सभी मलों से मुक्त, सभी चित्त-बंधनों को काट डाल सकनेवाला। किन्तु सम्परायिक अर्थ किया जाता है, फिर जन्म-मरण के बंधन में न पड़नेवाला। जब भगवान् की देशना के अनुसार इसी जन्म में 'अर्हत्' तक हो जाना संभव है तो फिर स्रोतापन्न-सकृदागामी आदि शब्दों के सांदृष्टिक अर्थ किसी भी तरह अयोग्य नहीं है, बल्कि अधिक युक्ति-युक्त हैं।

प्र. 148 : स्रोतापन्न आदि होने के लिए अर्थात् चित्त के सभी मलों का नाश करने के लिये कौन-सा मार्ग हैं ?

उ. : यही प्रसिद्ध आर्य अष्टांगिक-मार्ग। आठ अंगोंवाला होने से ही यह आर्य अष्टांगिक-मार्ग कहलाता है। आर्य तो विशेशण मात्र है जिस का अर्थ है श्रेष्ठ। आर्य अष्टांगिक मार्ग के आठ अंग हैं— (१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाणी, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीविका (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि।

प्र. 149 : सम्यक् दृष्टि से क्या मतलब हैं ?

उ. : सम्यक्-दृष्टि शब्द स्पष्ट ही हैं--ऐसा पर्यवेक्षण जो असम्यक् न हो। किसी भी नई सड़क का निर्माण करने के लिये जैसे भूमि का सर्वे (survey) करना--आस पास की सारी भूमि का पर्यवेक्षण करना अनिवार्य हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठ जीवन-पथ पर अग्रसर होने के लिये, सम्यक् दृष्टि का होना अनिवार्य हैं। भगवान् बुद्ध ने किसी भी दृष्टि (मतविशेष) को पकड़े रहने के लिये नहीं कहा है, उन्हों ने दृष्टी-विशेष

से चिपटे रहने के लिये नहीं कहा हैं, उन्हों ने सम्यक् दृष्टि सम्पन्न होने के लिये कहा हैं। यदि किसी दृष्टि (मत) विशेष को आज तक कोई भ्रम वश, अज्ञान वश सम्यक् दृष्टि समझता रहा हो, तो उस भ्रम का निराकरण होते ही, उस अज्ञान के दूर होते ही सम्यक् दृष्टि का भान होते ही, उसे अपनी मिथ्या दृष्टि का त्याग करना योग्य हैं। यह मिथ्या दृष्टि से सम्यक् दष्टि की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहना ही सत्पथ पर आगे बढ़ना हैं।

प्र. 150 : तो 'बौद्ध-धर्म' के अनुसार सम्यक्-दृष्टि क्या है ?

उ. : (१) दुराचरण को दुराचरण समझना 'सम्यक्-दृष्टि' है। (२) सदाचरण को सदाचरण समझना 'सम्यक्-दृष्टि' है। (३) लोभ, मोह, द्वेष को दुराचरण का मूल- कारण समझना 'सम्यक्-दृष्टि' है। (४) अलोभ, अमोह, अद्वेष को सदाचरण का मूल-कारण समझना 'सम्यक्-दृष्टि' है। (५) दुःख को समझना, दुःख-समुदय को समझना, दुःख-निरोध को समझना, दुःख-निरोध की ओर ले जानेवाले मार्ग को सम झना 'सम्यक्-दृष्टि' है। (६) दस संयोजनों (चित्त के बंधनों) से मुक्त होने का प्रयास करना 'सम्यक्-दृष्टि' हैं। (७) 'आत्मा' को लेकर किसी भी दृष्टि को मन में जगह न देना 'सम्यक्-दृष्टि' है। (८) किसी भी 'दृष्टि' से न चिपटना 'सम्यक्-दृष्टि' है (९) प्रतीत्य-समुत्पाद को यथार्थ रूप से समझना 'सम्यक्--दृष्टि' है।

प्र. 151 : सम्यक्-संकल्प किसे कहते हैं ?

उ. : आदमी का जीवन उस के द्वारा किये गये 'निश्चयों' का उतना अनुगमन नहीं करता, जितना उस के मन में उठनेवाले संकल्प-विकल्पों का। इसलिये संकल्पविकल्पों का 'सम्यक्' होना नितान्त आवश्यक है। ऐसे सभी संकल्प जिन से आत्म-हित होता हो, पर हित होता हो, उभय-हित होता हो, 'सम्यक्-संकल्प' माने जाने चाहिये। बौद्ध-परम्परा में जनता की सेवा करने के उद्देश्य से, 'साधना' द्वारा अपने आप को समर्थ बनाने के इरादे से, गृह-त्याग करना सम्यक्-संकल्प है। 'अक्रोध' (भाव) तथा अविहिंसा-भाव सम्यक्-संकल्प हैं।

'अक्रोध' तथा 'अहिंसा' इन शब्द-रूपों से 'क्रोध' तथा 'हिंसा' का अभाव मात्र ज्ञापित होता है। किन्तु 'अक्रोध' तथा 'अहिंसा' दोनों ही मैत्रीभावना के पर्य्याय है और अपने में अद्भुत आध्यात्मिक-शक्तियाँ हैं।

प्र. 152 : सम्यक् वाणी किसे कहते हैं ?

उ. : शब्द ही व्यक्ति को समाज से बाँध रखनेवाली कड़ी है। इसलिये 'शब्द' का महत्व बहुत ही अधिक है। 'शब्द' का सम्यक्-प्रयोग सर्वार्थ-साधक है। "मौन" के नामपर जो "गूंगे बने रहने का व्रत" अपनाया जाता है, उस का बौद्ध-धर्म में निषेध किया है। "मौनी" मुंह से तो कुछ नहीं बोलते, किन्तु उन के दिल में तूफान उठते हैं। "गुंगें" बने रहने से 'सम्यक्-वाणी' नहीं सधती। सम्यक्-वाणी सधती है, बोलने से ही। बोलना अवश्य--किन्तु ऐसा बोलना जिस में एक शब्द मिथ्या न हो। बोलना अवश्य--किन्तु ऐसा बोलना जिस में एक शब्द कठोर न हो। बोलना अवश्य—किन्तु ऐसा बोलना, जिस में एक शब्द किसी की चुगली न हो। बोलना अवश्य-किन्तु ऐसा बोलना, जिस में एक शब्द व्यर्थ न हो। ऐसा बोलना बड़ ही अभ्यास से होता है। ये चारों बाते वाणी के सामान्य अकुंश हैं। विशेष परिस्थिती में कभी-कभी ऐसी वाणीभी बोलनी ही पड़ती हैं, जो केवल 'सत्य' होती है और 'मधुर' नहीं होती, किन्तु ऐसी 'वाणी' भी तभी बोली जानी चाहिये, जब उस से 'आत्म-हित' या 'पर-हित' सधता हो।

प्र. 153 : सम्यक्-कर्मान्त क्या हैं ?

उ : बुद्धि से किसी बात को सही मानना सम्यक्-दृष्टि हैं और अपनी उस मान्यता के अनुसार आचरण करना सम्यक् कर्मान्त हैं। सम्यक् दृष्टि बिना 'सम्यक् कर्मान्त' के लंगड़ी हैं और 'सम्यक्-कर्मान्त' बिना सम्यक् दृष्टि के अंधा है। यदि सम्यक् दृष्टि का आदेश हो कि हिंसा समाज-विरोधिनी प्रवृत्ति है, तो हिंसा-विरत रहना सम्यक्-कर्मान्त हैं। यदि सम्यक्-दृष्टि का आदेश हो कि चोरी करना समाज-विरोधिनी प्रवृत्ति हैं, तो चोरी से विरत रहना सम्यक्-कर्मान्त है। यदि

सम्यक्-दृष्टि का आदेश हो कि सभी मर्यादाओं का उल्लंघन कर स्त्री-पुरुष का लैंगिक-समागम समाज-विरोधिनी प्रवृत्ति है, तो तदविषयक मर्यादाओं का पालन करना सम्यक्-कर्मान्त है।

प्र. 154 : सम्यक् आजीविका क्या है ?

उ. : क्योंकि सभी प्राणियों की स्थिति आहार पर ही निर्भर करती है, इसलिये बिना आजीविका के कोई नहीं रह सकता। भिक्षा से जीवन निर्वाह करना भी एक प्रकार की 'आजीविका' ही हैं। मनुष्य का 'आजीविका' का साधन ऐसा होना चाहिये कि उस से उस का सम्यक् भरण-पोषण हो सके और ऐसा करते हुए वह किसी दूसरे को हानि न पहुँचाता हो। बौद्ध-परम्परा में शस्त्रों के व्यापार को 'मिथ्या-आजीविका' कहा गया है, क्योंकि शस्त्रों का निर्माण ही मनुष्य घात के लिए किया जाता है। आज शस्त्रों के व्यापारी ही संसार के बड़े बड़े उद्योगपति माने जाते हैं। भूमि से उत्पन्न हुआ जो धन मनुष्य-समाज के हित-साधन का कारण बन सकता है, वही धन शस्त्र-निर्माण में व्यय होकर मानव-समाज के संहार का साधन बना हुआ हैं। शस्त्रों के व्यापारी जैसे ही समाज-हित विरोधी व्यापार हैं, आदमियों के व्यापार, 'पशु-हत्या' के लिये किया जानेवाला जानवरों का व्यापार, माँस का व्यापार तथा विष का व्यापार।

प्र. 155 : जानवरों के व्यापार तथा माँस के व्यापार को मिथ्या-जीविका कहा गया हैं, तो क्या बौद्धधर्म में माँसाहार सर्वथा निषिद्ध हैं ?

उ. : लङ्कावतार सदृश महायान बौद्ध धर्मग्रन्थों में मांसाहार सर्वथा निषिद्ध है। कदाचित उसी का परिणाम है कि यद्यपि चीन-वासी प्रायः सभी कुछ खा-पी लेते हैं, किन्तु चीन के बौद्ध भिक्षु, भारतीय वैष्णवों की ही तरह संपूर्ण शाकाहारी होते हैं। पालि बौद्ध वाङमय में प्राण-घात का निषेध है, मांस के व्यापार का निषेध है, किन्तु मांसाहार का निषेध नहीं। कदाचित इसी कारण से बौद्ध-गृहस्थ ही नहीं, भिक्षुगण भी शाकाहारी नहीं होते। हाँ बौद्ध-गृहस्थ पशु-घात नहीं करते और भिक्षु भी ऐसा मांस ग्रहण नहीं करते जो विशेष रूप से और व्यक्तिगत

रूप से उन्हीं के निमित्त तैयार किया गया हो।

प्र. 156 : भगवान बुद्ध के "अहिंसा परमोधर्मः" वचन में और बौद्धों के ही नहीं विशेष रूप से भिक्षुओं तक के मांसाहार में क्या विसंगति नहीं हैं ?

उ. : यह "अहिंसा परमो धर्मः" महाभारत का वचन है, न कि किसी बौद्ध ग्रन्थ का। यह सचमुच आश्चर्य की ही नहीं अनुताप की भी बात है कि महाभारत में "अहिंसा परमो धर्मः" के रहते हुए भी कौरव-पाण्डव युद्ध अर्थात महाभारत हुआ ! जहाँ तक बौद्धों और भिक्षुओं के मांसाहार का प्रश्न हैं एक ही व्याख्या समझ में आती है कि भारतीय जनता की ही तरह बौद्ध देशों की भी बहुसंख्यक जनता पुराने समय से मांसाहार ग्रहण करती चली आई थी। "अहिंसा" धर्म के प्रभाव से बौद्ध लोगों ने "पशु हत्या" का त्याग कर दिया। बौद्ध 'कसाई' नहीं ही होते। हाँ, बौद्ध मांस–विक्रेता यत्र–तत्र दिखाई दे जाते हैं।

भिक्षुगुणों को "त्रिकोटि परिशुद्ध" मत्स्य–मांस के ग्रहण करने की अनुज्ञा विनय–पिटक में है। इसलिये उन के लिये "शाकाहार" अनिवार्य बहीं इतना ही नहीं "शाकाहारी" होना—बौद्ध–गृहस्थों की दृष्टि में तो—कुछ प्रशंसनीय भी हैं, बौद्ध–भिक्षुओं की दृष्टि में विशेष नहीं।

'शाकाहार' तथा 'मांसाहार' दोनों के पक्ष–विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। जहाँ तक भिक्षुओं द्वारा "त्रिकोटि परिशुद्ध मांस का तर्क दिया जाता है, वह वर्तमान–युग में बहुत फिट नहीं बैठता क्योंकि आजकल बड़े–बड़े देशों में, बड़ी–बड़ी मशीनों के द्वारा जो पशु–घात किया जाता है और उन का जो माँस डिब्बों में भर–भर कर विदेशों में भेजा जाता है, वह किसी भी व्यक्ति–विशेष के लिये तैयार नहीं किया जाता। उन पशुओं की हत्या के लिये व्यक्तिगत रूप से किसी भी एक आदमी को जिमेदार नहीं ठहराया जा सकता।

अन्ततः यही कहना और स्वीकार करना पड़ता है कि "त्रिकोटि परिशुद्ध मांस" का नियम व्यक्तिगत जिम्मेदारी को ही दृष्टि में रख कर

बनाया गया होगा; सामुहिक-जिम्मेदारी जैसी चीज का उस युग के चिन्तन में समावेश नहीं रहा होगा।

प्र. 157 : सम्यक् व्यायाम किसे कहते हैं ?

उ. : आजकल 'व्यायाम' शब्द शारीरिक-व्यायाम का ही पर्याय बन गया है। पहले यह 'प्रयत्न' का पर्याय रहा प्रतीत होता है। हम नाना उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के प्रयत्न करते हैं। किन्तु सर्वश्रेष्ठ प्रयत्न वही ही कहा जायगा, जो हम अपने चरित्र-निर्माण के निमित्त करते हैं, हम में जो बुराईयाँ नहीं हैं, वैसी कोई बुराईयाँ हमारें चरित्र का अंग न बन जाये, इस की सतत सावधानी का नाम 'सम्यक-व्यायाम' है। हम में जो बुराईयाँ हैं, वे हमारे चरित्र में से निकल जायें, ऐसे सतत प्रयत्न का नाम 'सम्यक-व्यायाम' है। हम में जो अच्छाईयाँ हैं, वे जैसी की तैसी हमारे चरित्र का अंग बनी रहें, ऐसी सतत सावधानी का नाम 'सम्यक-व्यायाम' है। हम में जो अच्छाईयाँ नहीं, वे हम में चली आयें, ऐसे सतत प्रयत्न का नाम 'सम्यक-व्यायाम' है।

प्र. 158 : सम्यक् स्मृति किसे कहते हैं ?

उ. : 'व्यायाम' की तरह ही 'स्मृति' शब्द भी याददाश्त के अर्थ में रूढ़ हो गया है। पालि सति (स्मृति) शब्द सतत जागरुकता का पर्याय है। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा काम करते हुए भी इस का भान रहना, इस का ध्यान रहना कि मैं काम कर रहा हूँ 'सम्यक-स्मृति' है। उठते, बैठते, चलते, फिरते, खाते, पीते जो कुछ भी किसी से हो, करनेवाले को उस की सम्पूर्ण जानकारी रहे, अन्यमनस्क-भाव से कुछ भी न किया जाये-इसी का नाम 'सम्यक-स्मृति' है।

प्र. 159 : सम्यक समाधि किसे कहते हैं ?

उ. : कुशल धर्मों में चित्त की एकाग्रता का नाम 'समाधि' है। शब्द के एक से अधिक अर्थ रूढ़ हो गये हैं। साँस का आना-जाना रोकने का नाम 'समाधि' है। कुछ घण्टों या दिनों के लिये जमीन में जीते-जी गाड़ दिये जाने का नाम 'समाधि' है। प्राणान्त हो जाने का नाम

'समाधि' है । साँस के चलते रहने पर भी संज्ञा–विहीन हो जाने का नाम 'समाधि' है । सम्यक–समाधि को इन सब समाधियों से कुछ लेना–देना नहीं । चित्त की एकाग्रता एक चीज है और चित्त के विषय (आलम्बन) की एकता दूसरी चीज । किसी भी एक ही विषय पर जोर–जबर्दस्ती चित्त को एकाग्र करने का प्रयास करनेवाले "विक्षिप्त" तक होते देखे गये हैं । चित्त स्वभाव से ही सतत गतिशील है । उसे एक दिशा तो प्रदान की जा सकती है, किन्तु किसी एक ही बिन्दू पर जमे रहनेवाली स्थिरता नहीं ही ।

फिर समाधि के फलस्वरूप ऋद्धियों–सिद्धियों की प्राप्ति के लोभ में पड़कर भी अनेक लोग अपनी असीम हानि कर बैठते हैं । ऋद्धि-सिद्धियों का वैज्ञानिक अस्तित्व अभी तक असिद्ध ही है । किसी भी बुद्धिमान साधक को उन के चक्कर में पड़ने की जरूरत नहीं ।

प्र. 160 : कुछ लोग 'सृष्टि-निर्माता' कहे जानेवाले 'ईश्वर' को 'सर्वज्ञ' मानते हैं । दूसरे कुछ लोग अपने अपने तीर्थङ्करों को 'सर्वज्ञ' मानते हैं जैसे जैन-लोग । क्या भगवान बुद्ध को भी 'सर्वज्ञ' कहा जा सकता है ?

उ. : यही प्रश्न एक बार स्वयं भगवान बुद्ध से पूछा गया था । वत्सगोत्र के एक परिव्राजक ने ही यह जिज्ञासा की––

"सुना है श्रमण गौतम सर्वज्ञ (सर्वदर्शी) है, समस्त ज्ञान के जानकारी होने का दावा करते हैं । चलते, खड़े, सोते–जागते, हर समय ज्ञान–दर्शन उपस्थित रहता है । क्या जो ऐसा कहते या समझते हैं, उन का ऐसा कहना यथार्थ है ?"

भगवान का उत्तर था––"जो मुझे 'सर्वज्ञ' कहते हैं, वे मुझ पर झूठा इलजाम लगाते हैं ।' बौद्ध–परम्परा ने न भगवान बुद्ध को "सर्वज्ञ" माना है, न किसी अन्य को । भिक्षु आनन्द ने निगण्ठनाथ–पुत्र की "सर्वज्ञता" का मजाक उड़ाते हुए कहा हैं कि यदि निगण्ठनाथ–पुत्र "सर्वज्ञ" हैं, तो वे ऐसी गलियों में भिक्षा मांगने क्यों जाते हैं, जिन में

कुत्ते भौंकते रहते हैं ? क्या निगण्ठनाथ-पुत्र को पहले से यह ज्ञात नहीं होता कि उस गली में कुत्त भौंकनेवाले हैं ।

प्र. 161 : तो क्या भगवान बुद्ध " सर्वज्ञ " नहीं थे ?

उ. : ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सर्वज्ञ का पर्य्याय " सर्व-विद " भी है । उस शब्द का भगवान बुद्ध के लिये औरों ने भी उपयोग किया हैं, स्वयं भगवान बुद्ध ने भी अपने लिये किया हैं । किन्तु उन का कहना था कि क्योंकि मैं दुःख, दुःख-समुदय, दुःखनिरोध तथा दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा को जानता हूँ, इसलिये मैं 'सर्व-विद्' या " सर्वज्ञ " हूँ ।

प्र. 162 : तब क्या भगवान के उक्त कथन में तथा इस कथन में परस्पर विरोध नहीं ?

उ. : शब्द प्रयोग की समानता रहने पर भी जब अर्थ की समानता न हो तो विरोध का प्रश्न नहीं उठता । बौद्ध-परंपरा की ओर से जो इस का समाधान किया जाता है, वह यह हैं कि बुद्ध ऐसे " सर्वज्ञ " तो थे कि जब वह जिस बात की जानकारी प्राप्त कर लेना चाहते थे, प्राप्त कर ले सकते थे, किन्तु ऐसे " सर्वज्ञ " नहीं थे कि उन्हें अनायास ही समस्त जानकारी उपस्थित रहती हो । लगता है कि " सर्वज्ञ" शब्द के व्यामोह में पड़कर यह व्यर्थ की बाल की खाल निकाली गई हैं ।

प्र. 163 : और यह जो भगवान को 'त्रैविद्य' कहा गया है, इसके बारे में यथार्थ-स्थिति क्या है ?

उ. : जिस प्रकार जैन-परम्परा में " सर्वज्ञ " एक अत्यन्त उच्च-कोटि का विशेषण माना जाता था, सम्भवतः ब्राह्मण-परपंरा में 'तीनों' वेदों में पारंगत होना भी एक उसी के आस-पास के दर्जे का विशेषण रहा हो । प्रचार-प्रधान बौद्ध परपंरा जहाँ भगवान बुद्ध के लिये 'सर्वज्ञ' शब्द को बनाये रखना चाहती थी, वहाँ 'त्रि-विद' से मिलता-जुलता 'त्रैविद्य' विशेषण भी अपनाने की आवश्यकता समझ से परे की बात नहीं हैं । भगवान बद्ध को 'तीनों वेदों का पारंगत कहने का तो कोई

अर्थ नहीं था। इसलिये उन्हें 'तीनों' विद्याओं में निष्णात' कहा गया। वे "तीन-विद्यायें' कौन-सी है ? (१) इच्छा होने पर अपने सभी पूर्व जन्मों का ज्ञान प्राप्त कर सकना। (२) इच्छा होने पर दूसरों के सभी पूर्व-जन्मों का ज्ञान प्राप्त कर सकना। (३) आस्रव-रहित विमुक्त चित्त युक्त हो कर विचरना।

बौद्ध-वाङमय पूर्व-जन्मों की कथाओं से भरा पड़ा है। यह कहना सचमुच कठिन है कि वे कथायें ही है, अथवा ऐतहासिक सिद्धियाँ। असम्भव नहीं कि वे ऐसी कथाएँ हों, जो ऐतिहासिक आधार लिये हुए हों।

प्र. 164 : प्रो. धम्मानन्द कोसम्बी तथा डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने जिस घटना को बुद्ध अभिनिष्क्रमन का मूल-कारण माना है, क्या वह भगवान बुद्ध के जीवन में घटी ही नहीं ?

उ. : क्यों नहीं घटी ? बौद्ध वाङमय में उस का प्रामाणिक उल्लेख विद्यमान है। अन्तर इतना ही है कि प्रो. धम्मानन्द कौसम्बी तथा डॉ. भीमराव अम्बेडकर के अनुसार वह घटना सिद्धार्थकुमार के अभिनिष्क्रमन से पूर्व घटी, तथा बौद्ध साहित्यिक परंपरा के अनुसार वह घटी भगवान बुद्ध के बुद्धत्व-लाभ के अनन्तर। घटना इस प्रकार है। शाक्य और कोलिय, कपिलवस्तु और कोलिय-नगर के बीच की रोहिणी नदी को एक ही बाँध से बाँधकर खेती किया करते थे। जेठ महीने में खेती को सूखता देख, दोनों नगरों के वासी मजदूर एकत्रित हुए। कोलिय-नगर वासियों ने कहा—

"यह पानी दोनों ओर ले जाने पर न तुम्हारा ही पूरा होगा, न हमारा ही। हमारी खेती एक पानी से ही पूरी हो जायगी, यह पानी हमें लेने दो। दूसरों ने कहा ..... हमारी भी खेती एक ही पानी से हो जायगी, यह पानी हमें लेने दो।"

"हम नहीं देंगे।"

"हम भी नहीं देंगे।"

बात बढ़ते-बढ़ते बढ़ गई। उभय-पक्ष का झगड़ा राज-कुलों का झगड़ा बन गया।

तब शाक्य . . . (और) कोलिय युद्ध के लिये तैयार होकर निकले। शास्ता भी . . . . . यहाँ पहुँचे। भगवान ने पूछा--

"महाराजो! किस बात का झगड़ा है ?"

"भन्ते! हम नहीं जानते!"

"तब कौन जानता है ?"

"सेनापति जानता है।"

'सेनापति ने कहा उपराज जानता है' . . . इस प्रकार अन्त में पता लगा कि मजदूर जानते हैं और झगड़े का मूल कारण पानी है।

भगवान ने प्रश्न किया-- "महाराजो! पानी का क्या मोल है ?"

उत्तर मिला--"भन्ते! कुछ नहीं।"

भगवान- "क्षत्रियों के खून का क्या मोल है ?"

उत्तर मिला-- "अनमोल।"

"तुम लोग बिना कीमत के प्राप्त होनेवाले पानी के लिये क्षत्रियों का अनमोल खून बहाना चाहते हो ?"

उभय-पक्ष के लोग कुछ उत्तर न दे सके। झगड़ा शान्त हो गया। युद्धों की यह समस्या जैसे मानव-जीवन की ही नहीं प्राणी-मात्र की सनातन समस्या है। यदि समय रहते मानव-बुद्धि ने इस का कुछ निदान न किया, तो आज की सर्व-व्यापक शस्त्र-सन्नद्धता को देखते हुए, सहज ही यह आशंका प्रकट की जा सकती है कि सम्भवतः मानव सभ्यता का ही भविष्य अन्धकारमय है। नेहरु जी के कथनानुसार "संसार को बुद्ध और युद्ध दोनों में से एक का चुनाव करना ही पड़ेगा।"

प्र. 165 : भगवान् ने भिक्षुओं को शरीर ढांकने के लिये तीन चीवर ग्रहण करने को और क्षुधा-निवृत्त के लिये भिक्षाटन करने की अनुमति दी थी। अब जब संघ को 'विहारों' का ग्रहण करने की

अनुमति भी मिल गई, तो फिर विहारों के लिये आवश्यक सामान भी अपेक्षित हो गया होगा ?

उ. : हाँ, क्यों नहीं; बिना सामान के विहार किस काम के ! निरन्तर घूमते रहनेवाले भिक्षुओं के लिये जगह जमीन जैसी किसी भी चीज का उत्तराधिकारी बनने का प्रश्न पैदा नहीं होता था। अब सम्पत्ति के अधिकार के भी प्रश्न उपस्थित होने लगे। एक उल्लेख है कि एक बार भगवान श्रावस्ती में इच्छानुसार विहार कर, सारिपुत्र, मोग्गल्लान... जहां कीटागिरि हैं, वहाँ चारिका के लिये चले। अश्वजित् और पुनर्वसु, भिक्षुओं ने सुना -भगवान् सारिपुत्र तथा मौग्गल्यायन के साथ कीटागिरि आ रहे हैं।...

कीटागिरि पहुँचने पर भगवान् को पता लगा कि अश्वजित् और पुनर्वसु भिक्षुओं ने सांघिक सम्पत्ति को आपस में बांट लिया है। भगवान् ने उन्हें धिक्कार कर भिक्षुओं से कहा– " भिक्षूओं ! ये पाँच चीजें बाँटी नहीं जा सकती। बांट लेने पर भी बिना बँटी जैसी ही रहती हैं। कौन–सी पाँच ? (१) आराम या आराम–वस्तु (आराम का घर), (२) विहार या विहार–वस्तु (३) मंच, पीठ, गद्दा, तकिया...(४) लोह–कुंभ आदि लोहे के बरतन, (५) बल्ली, वांस, मुंज आदि लकड़ी के बर्तन और मिट्टी के बर्तन।

तब बाँटी जा सकनेवाली चीजें कौन–सी थीं ? भिक्षुओं की त्रिचीवर आदि आठ चीजें।

यदि विहार आदि बाँटे नहीं जाते थे, यदि बाँटे जाने पर भी अविभक्त ही रहते थे, तो सिद्धान्ततः तो वे संघ की सम्पत्ति होते थे, व्यवहार में वे किस की सम्पत्ति माने जाते थे और उन की व्यवस्था कौन करता था, या कौन करता है ? थाइलैण्ड आदि कुछ देशों में काफी विहार राजकीय–विहार हैं। उन्हें आप भिक्षुओं की स्थायी विश्राम–शालायें (रेस्ट–हाउस) कह सकते हैं। सरकार जिस भिक्षु को जिस विहार में चाहे बिठा दे और जिस विहार से चाहे हटा दे। जो " सरकारी

विहार " नहीं होते, उन की व्यवस्था संघ द्वारा नियुक्त महास्थविर करता है । थाइलैण्ड में यह कहना कठिन है कि कहाँ सरकार का क्षेत्र समाप्त होता है और कहाँ संघ का क्षेत्र आरम्भ होता है । क्योंकि वहाँ भिक्षुओं की व्यवस्था के लिये भिक्षुओं की अपनी समानान्तर "सरकार" है । उसी का विहारों पर अधिकार प्रतीत होता है और उन्हीं की व्यवस्था के अन्तर्गत उनका संचालन ।

बर्मा में शायद "राजकीय विहार" नहीं होते । पहले रहे होंगे । अंग्रेजों की अधीनता के युग में नहीं रहे होंगे । अब विहारों की व्यवस्था कुछ कुछ सिंहल-द्वीप की ही तरह भिक्षुओं और दायकों (गृहस्थ उपासकों) के हाथ में रहती प्रतीत होती है ।

आज के बंगलादेश, किन्तु कल के भारतवर्ष के अन्तर्गत जो चटगाँव जिला है, वहाँ भी पुराने समय से विहार चले आये हैं । उन की व्यवस्था तथा मल्कीयत दायकों (गृहस्थ उपासकों) का ही विषय है ।

सिंहल-द्वीप में विहाराधिपति के शिष्यों में जो सब से ज्येष्ठ होता है, उसे ही विहार का उत्तराधिकारी मान लिया जाता है । बहुत से लोग विहार पर अपना स्वामित्व बनाये रखने के लिये अपने ही किसी निकट सम्बन्धी को अपना "ज्येष्ठ-शिष्य" भी मान लेते हैं और उसे दीक्षा देते हैं । सगा-सम्बन्धी भी रिशतेदार होने मात्र से कुछ भिक्षु बनने का या ज्येष्ठ-शिष्य बनने के आयोग्य नहीं हो जाता । विहारों की व्यवस्था देश-भेद के क्रम से भिन्न-भिन्न है । यदि विहार किसी की भी व्यक्तिगत-सम्पत्ति न बनें और राजकीय सम्पत्ति भी न बनें, संघ की स्वतंत्र सांघिक सम्पत्ति माने जायें, तभी "सांघिक-भावना" सुरक्षित रहती है ।

प्र. 166 : यह जो अधिकांश भिक्षु मध्याह्नोत्तर भोजन नहीं करते, चाय ही चाय और वह भी बिना दूध पीते देखे जाते हैं, इस का क्या कारण हैं ?

उ. : इस के दो कारण प्रतीत होते हैं : (१) भिक्षा-जीवी भिक्षुओं को रात्रि के समय भिक्षा माँगने जाने में स्वाभाविक असुविधा

होना। (२) अल्पाहार सुख का कारण होना। इन दोनों कारणों के समर्थन में दो प्रतीक दिये जा सकते हैं–(१) कहते हैं कि कोई भिक्षु रात्रि के समय भिक्षा माँगने गया था। उसे "यक्ष" जान कोई औरत डर गई। भगवान् को सूचना मिली। उन्होंने रात्रि को भिक्षा माँगने का निषेध कर दिया। रात को भिक्षा माँगना निषिद्ध ठहराया गया, तो रात्रि–भोजन स्वयं ही वर्जित हो गया। (२) एक समय भगवान् काशी देश में चारिका कर रहे थे। उस समय उन्हों ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया—

"भिक्षुओ! मैं रात्रि भोजन से विरत हो भोजन करता हूँ।... रात्रि–भोजन छोड़ कर भोजन करने से...आरोग्य, उत्साह बल, सुख-पूर्वक विहार अनुभव करता हूँ। आओ, भिक्षुओ! तुम भी रात्रि–भोजन विरत हो भोजन करो...रात्रि–भोजन छोड़कर भोजन करने से तुम भी...अनुभव करोगे।"

अश्वजित्–पुनर्वसु भिक्षुओं का कहना था–"हम शाम को भी खाते हैं, प्रातःकाल भी खाते हैं, मध्याह्न के समय भी खाते हैं, मध्याह्नोत्तर भी खाते हैं। हम सायं, प्रातः मध्याह्न, मध्याह्नोत्तर भोजन करते भी...आरोग्य, उत्साह, बल (–युक्त) हो, सुखपूर्वक विहार करते हैं।"

भगवान् इस का क्या उत्तर दे सकते थे ? उन्हों ने वह ही उत्तर दिया, जो उन के अनुरूप था। उन्हों ने कहा—

"भिक्षुओं, यह मेरा अनुभव है। मैं देखी–सुनी बात नहीं कहता। मैं स्वानुभव की बात करता हूँ।"

व्यक्ति का अपना अनुभव ही उसके लिये सब से बड़ा प्रमाण है। एक पिता ने अपने पुत्र को कहा था—"बेटा! ईमानदारी अच्छी चीज है। मैंने दोनों को (अर्थात् बेईमानी को भी) करके देखा है।" प्रश्न है यदि अपना अनुभव किसी दूसरे के अनुभव से भिन्न हो, तो किस की बात मानी जाय ? अपने अनुभव को प्रमाण माना जाय, अथवा दूसरे के अनुभव को ? सामान्यतया अपने अनुभव को ही प्रमाण मानना योग्य है, किन्तु परिस्थिति–विशेष में दूसरे के अनुभव को भी अधिक प्रामाणिकता

देनी पड़ती है, जैसे विद्यार्थी अपने हितचिंतक गुरु के कथन को 'प्रमाण' मानकर चलता है, अथवा रोगी अपने हितचिंतक वैद्य के कथन को। आरम्भ में इन दोनों को 'प्रमाण' मानते हुए भी, यदि स्वानुभव दोनों के कथन को अविश्वसनीय ठहराये, तो उन्हें अविश्वसनीय ही मानना चाहिये। भगवान् ने स्वयं अपने बारे में भी कहा है—

"भिक्षुओ जैसे सुनार कसौटी पर कस कर ही सोने चाँदी को ग्रहण करता है, उसी प्रकार मेरे वचन को भी 'स्वानुभव' की कसौटी पर कसकर, उस की परीक्षा करके ही ग्रहण करना योग्य है, न कि केवल मेरे प्रति आदर--बुद्धि होने के कारण।"

भगवान् बुद्ध का धर्म सांदृष्टिक है। वह किसी को भी ऐसे ही 'सुख' का परित्याग करने के लिये कहते हैं, जिसे उस ने भ्रम–वश 'सुख' मान लिया हो। भगवान् किसी को भी यथार्थ 'सुख' का परित्याग करने के लिये नहीं कहते। उन्हों ने 'निर्वाण' का भी उपदेश इसलिये दिया है, क्योंकि निर्वाण 'परम–सुख' है। किन्तु 'निर्वाण' अथवा 'निर्वाण' की प्राप्ति करा सकनेवाली 'प्रज्ञा' की प्राप्ति सहसा नहीं होती। आदमी क्रमशः ही उस की ओर अग्रसर होता है। वह किस प्रकार क्रमशः अग्रसर होता है ? सर्वप्रथम आदमी के मन में (किसी की चर्या देखकर) श्रद्धा उपजती है। वह ज्ञानी के पास जाता हैं। उस की सेवा में रहता है। उस की संगति में रहकर उस के द्वारा उपदिष्ट धर्म को सुनता है। उस पर विचार करता है। विचार करने से उस धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न होती है। रुचि होने पर उस के प्रति उत्साह हो जाता है। उत्साह होने पर तदनुसार आचरण करता है। आचरण करने से इसी शरीर से ही परम-ज्ञान की प्राप्ति करता हैं।"

इस प्रकार भगवान् बुद्ध के धर्म को हम इसी शरीर में साक्षात् किया जा सकनेवाला "नकद" धर्म कह सकते हैं, कुछ परलोक की प्रतीक्षा करते रहनेवाला "उधार" धर्म नहीं।

प्र. 167 : किसी भी विचार को अग्रसर करने के लिये मनुष्यों

का 'एकजूट' होना आवश्यक है। वे कौन-सी बातें हैं, जिनके करने से आदमी अपने नेता के अनुयायी बने रहते हैं ?

उ. : कुछ इस से मिलता–जुलता प्रश्न ही भगवान् ने एक बार हस्तक परिव्राजक से किया था और उस के उत्तर का समर्थन किया था। भगवान ने पूछा--

"हस्तक ! यह तेरी परिषद् बड़ी है। इतनी बड़ी परिषद् को तू कैसे अपने साथ मिलाये रखता है ?"

"भन्ते ! आप ने जो चार संग्रह-वस्तुओं का उपदेश दिया है, उन्हीं से मैं इतनी बड़ी परिषद को एक मिलाये रखता हूँ, अपना अनुयायी बनाये रखता हूँ। भन्ते ! मैं जानता हूँ कि कुछ लोग कुछ देते–लेते रहने से प्रसन्न रहते हैं, उन्हें कुछ देता–लेता रहता हूँ। (२) भन्ते ! मैं जानता हूँ कि कुछ लोग खातिरदारी से प्रसन्न होते हैं, उन की खातिर-दारी (वेय्यावच्च) करता हूँ। (३) भन्ते ! मैं जानता हूँ कि कुछ लोग उन का काम कर देने से (अर्थ चर्या से) प्रसन्न रहते हैं, उन का काम कर देता हूँ। भन्ते ! मैं जानता हूँ कि कुछ लोग बराबरी का बर्ताव करने से प्रसन्न होते हैं। उन के साथ मैं बराबरी का बर्ताव करता हूँ। भन्ते ! मेरे कुल में संपत्ति है। दरिद्र की तो कोई कुछ नहीं सुनना चाहता।"

भगवान् बोले–"साधु, साधु हस्तक ! महती परिषद् को एक साथ मिलाये रखने का यही उपाय है।"

प्र. 168 : **क्या भगवान ने पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने के लिये कुछ उपदेश नहीं दिया ? क्या उन्होंने गृह–त्याग को ही श्रेष्ठतर बताया है ?**

उ. : किसी के लिये 'गृह त्याग' की अपेक्षा 'गृही' बने रहना श्रेयस्कर हो सकता है, किसी के लिये 'गृही' बने रहने की अपेक्षा 'गृह–त्यागी' बन जाना अधिक श्रेयस्कर हो सकता हैं। इस का निर्णय व्यक्ति की स्थिति, परिस्थिति, योग्यता तथा प्रवृत्ति के अनुसार किया जाना चाहिये। भगवान् ने गृहस्थ-जीवन को अधिक सुखी बनाने के लिये अनेक

उपदेश दिये हैं। सिगालोवाद (शृगाल को दिया गया उपदेश) इस प्रकार है—

एक समय भगवान् राजगृह में वेणुवन कलन्द–निवाप में विहार करते थे।

उस समय शृगाल नाम का गृहपति–पुत्र सबेरे ही उठकर राजगृह से निकलकर, भीगे वस्त्र, भीगे-केश, हाथ जोड़, पूर्व-दिशा, दक्षिण-दिशा, पश्चिम-दिशा, उत्तर-दिशा, नीचे की दिशा, ऊपर की दिशा-नाना दिशाओं को नमस्कार करता था।

भगवान् ने उसे ऐसा करते देख, पूछा—

"गृहपति पुत्र ! क्या तू रोज सवेरे उठकर इसी प्रकार नमस्कार करता है ?"

'भन्ते ! मेरे पिता ने मुझे मरते वक्त यह कहा है कि इस प्रकार पूर्व–दिशा, दक्षिण–दिशा आदि को नमस्कार किया कर। मैं अपने पिता के वचन के प्रति गौरव प्रदर्शित करता हूँ।"

"गृहपति–पुत्र ! तू ने अपने पिता के कथन को ठीक तरह से ग्रहण नहीं किया। माता–पिता को पूर्व–दिशा मानना चाहिये। आचार्यों को दक्षिण दिशा मानना चाहिये। पुत्र–स्त्री को पश्चिम दिशा मानना चाहिये। मित्रामात्यों को उत्तर–दिशा मानना चाहिये। नौकर–चाकरों को नीचे की दिशा मानना चाहिये। साधु–सन्तों (श्रमण–ब्राह्मणों) को ऊपर की दिशा मानना चाहिये।"

"गृहपति–पुत्र ! पाँच तरह से माता–पिता की सेवा करनी चाहिये : (१) इन्हों ने मेरा भरण–पोषण किया है, अतः मुझे इन का भरण–पोषण करना चाहिये, (२), उन्होंने मेरा उपकार किया है, अतः मुझे इन का उपकार करना चाहिये, (३) इन्हों ने कुल–परम्परा को बनाये रखा है, अतः मुझे भी कुल–परम्परा को बनाये रखना चाहिये। (४) इन्हों ने मुझे अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया हैं, अतः मुझे भी उत्तराधिकार सौंपना चाहिये। (५) ये श्राद्ध (श्रद्धापूर्वक दान देना)

करते रहे हैं, अतः मुझे भी श्राद्ध करते रहना चाहिये ।

"इन पांच तरह सेवित मात-पिता अपनी संतान पर पाँच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं-- (१) वे अपनी सन्तान को पाप-कर्म से दूर रखते हैं, (२) वे उसे पुण्य-कर्मों में लगाते हैं, (३) वे उसे शिल्प सिखाते हैं, (४) वे योग्य-स्त्री से संबंध करा देते हैं, (५) वे समय आने पर उत्तराधिकार सौंप देते हैं ।

"गृहपति-पुत्र ! पाँच बातों से शिष्य-द्वारा आचार्य-रूपी दक्षिण-दिशा की सेवा की जानी चाहिये--(१) तत्पर रहना चाहिये, (२) सेवा करनी चाहिये, (३) सुश्रुषा करनी चाहिये (४) परिचर्या करनी चाहिये, (५) आदरपूर्वक शिल्प (विद्या) सीखनी चाहिये ।

"गृहपति-पुत्र ! इस प्रकार पाँच बातों से शिष्य द्वारा सेवित आचार्य पाँच प्रकार से शिष्य पर अनुकम्पा करते हैं--(१) सुविनय युक्त करते हैं। (२) सुन्दर शिक्षा को भली प्रकार सिखाते हैं । (३) 'हमारी (विद्या) परिपूर्ण रहेगी' सोच सभी शिल्प (हुनर) सभी श्रुत (विद्या) सिखाते हैं (४) मित्र-अमात्यों को सु-प्रति पादन करते हैं । (५) दिशा की सुरक्षा करते हैं ।

"गृहपति-पुत्र ! पाँच प्रकार से स्वामि-द्वारा भार्या-रूपी पश्चिम दिशा की सेवा की जानी चाहिये: (१) सन्मान से, (२) अपमान न करने से, (३) अतिचार (परस्त्री-गमन-आदि) न करने से, (४) ऐश्वर्य (सम्पत्ति) प्रदान करने से, (५)अलंकार-प्रदान करनें से । गृहपति-पुत्र ! इन पाँच प्रकार से स्वामिद्वारा सेवित भार्या पाँच प्रकार से स्वामी पर अनुकम्पा करती है-- (१) काम-काज (कर्मान्त) भली प्रकार करती है, (२) नौकर-चाकर (परिजन) वश में रहते हैं, (३) अतिचारिणी नहीं होती, (४) अर्जित धन की रक्षा करती है, तथा (५) सभी कामों में आलस्य-रहित तथा दक्ष होती है ।

"गृहपति-पुत्र ! पाँच प्रकार से यार-दोस्त रूपी उत्तर-दिशा की सेवा करनी चाहिये- (१) दान से, (२) प्रिय-वाणी से, (३) काम-काज

कर देने (अर्थ-चर्या) से, (४) समानता का व्यवहार करने से तथा (५) विश्वासी बनने से। गृहपति-पुत्र ! इन पाँच प्रकारों से सेवा किये गये यार-दोस्त पाँच प्रकारों से प्रत्युपकार करते हैं--(१) प्रमाद (भूल) हो जाने पर रक्षा करते हैं, (२) प्रमादी की सम्पत्ति की रक्षा करते हैं, (३) भय-भीत होने पर-शरण (रक्षक) होते हैं (४) आपत्काल में नहीं छोड़ते तथा (५) दूसरी प्रजा (लोग) भी ऐसे यार- दोस्तवाले व्यक्ति का सत्कार करती है।

"गृहपति-पुत्र ! पाँच प्रकार से मालिकों द्वारा नौकर-चाकर रूपी निचली दिशाकी देख-भाल की जानी चाहिये :- (१) उनकी सामर्थ्य के अनुसार उनसे काम लेकर, (२) भोजन-वेतन देकर, (३) रोगी-सुश्रूषा से, (४) उत्तम रसों को प्रदान करने से तथा (५) समय पर छुट्टी देने से।

"गृहपति-पुत्र ! इन पाँच प्रकार से देख-भाल किये गये नौकर-चाकर पाँच प्रकार से मालिक की सेवा करते हैं--(१) मालिक से पहले बिस्तर से उठ जानेवाले होते हैं, (२) पीछे सोनेवाले होते हैं, (३) जो दिया जाये, वही लेनेवाले होते हैं, (४) कामों को अच्छी तरह करनेवाले होते हैं, (५) किर्ति-प्रशंसा फैलानेवाले होते हैं।

"गृहपति-पुत्र ! पाँच प्रकार से श्रमण ब्राह्मण रूपी ऊपर की दिशा की सेवा की जानी चाहिये--(१) मैत्री-भाव युक्त शारीरिक-कर्म होना चाहिये, (२) मैत्री-भाव युक्त वाणी होनी चाहिये, (३) मैत्री-भाव युक्त मन होना चाहिये (४) भिक्षुओं के लिये द्वार खुला रहना चाहिये तथा (५) भौतिक-वस्तुयें दी जानी चाहिये।

"गृहपति-पुत्र ! इस प्रकार सेवित ऊपर की दिशा श्रमण-ब्राह्मण पांच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं-(१) पाप (बुराई) से बचाते हैं (२) कल्याण (भलाई) में प्रवेश कराते हैं (३) अश्रुत को सुनाते हैं, (४) श्रुत (विद्या) को दृढ़ करते हैं तथा (५) सुगति-पथ दिखाते हैं।

यह श्रमण-ब्राह्मण सामाजिक-पद बौद्ध वाङमय में बहुधा आता है। इस के दो अर्थ हो सकते हैं- (१) या तो 'श्रमण' की ही तरह

'ब्राह्मण' शब्द भी केवल गुण-वाची रहा होगा। (२) या 'श्रमणों' तथा 'विद्यार्थी' के 'शाश्वत-विरोध' के अनन्तर श्रमणों ने 'सह-अस्तित्व' के सिद्धान्त को स्वीकार कर, अपनी तरह 'ब्राह्मणों' को भी "आदरणीय" मान लिया होगा। इस के अतिरिक्त, इस की और कोई तिसरी व्याख्या हो ही नहीं सकती। आज दिन तो 'श्रमण' और 'ब्राह्मण' दोनों की कुछ कुछ एक जैसी स्थिति हो गई है, तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि 'श्रमण' तो कोई भी बन या कहला सकता है, किन्तु "ब्राह्मण" बनने के लिये तो "ब्राह्मण" माता-पिता की संतान होना ही आवश्यक है।

प्र. 169 : भगवान् बुद्ध के मतानुसार यथार्थ-रूप से 'श्रमण' किसे कहा जा सकता है ?

उ. : एक समय भगवान् अंग देश में अंगो के अश्वपुर नाम के कस्बे में विहार कर रहे थे। उस समय भगवान् ने भिक्षुओं को कहा—

"भिक्षुओं, लोग 'श्रमण', 'श्रमण' कहते हैं। तुम लोग भी, 'तुम कौन हो ?' पूछने पर 'हम श्रमण है' उत्तर देते हो। भिक्षुओं, यथार्थ 'श्रमण' किसे कहा जा सकता है ? भिक्षुओं, उसी भिक्षु को यथार्थ रूप से 'श्रमण' कहा जा सकता है, जिस का लोभ नष्ट हो गया हो, जिस को क्रोध न आता हो, जो पाखण्ड न करता हो, जो इर्ष्यालु न हो. . .भिक्षुओं, मैं चीवर-धारण किया मात्र रहने से किसी को 'श्रमण' नहीं कहता। . . .भिक्षुओं यदि चीवर धारण करने मात्र से किसी भिक्षु का लोभ नष्ट हो सकता, तो उस भिक्षु के सगे-सम्बन्धी पैदा होते ही उस के लिये चीवर बनवा देते कि ले चीवर धारण कर ले, जिस से तेरा लोभ नष्ट हो जाय। . . .भिक्षुओं, जैसे कोई स्वच्छ, मधुर शीतल जलवाली पुष्करनी हो। यदि पूर्व-दिशा से भी धाम में तथा, थका प्यासा आदमी आता है, तो उस की थकावट दूर होती है, उस की प्यास नष्ट होती है। . . .यदि पश्चिम दिशा से. . .यदि उत्तर दिशा से...यदि दक्षिण दिशा से. . .उस की प्यास नष्ट होती है। इसी प्रकार चाहे कोई भी हो, यदि तथागत द्वारा उपदिष्ट धर्म को अपनाकर मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा

की भावना करता है, तो उसे अपने भीतर की शान्ति प्राप्त होती है।"

प्र. 170 : क्या सभी के प्रति समान-भाव से मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा की भावना करनी चाहिये ?

उ. : नहीं। मैत्री तो सभी प्राणियों के लिये विहित है। हाँ, 'करुणा' उन्हीं के लिये है, जो अपनी अपेक्षा अधिक दुःखी हैं। इसी प्रकार 'मुदिता' भी उन्हीं के लिये है, जो अपनी अपेक्षा सुखी हैं, समृद्ध हैं। और 'उपेक्षा' तो केवल उन के लिये है, जो किसी न किसी कारण से विरोध-भाव प्रदर्शित करते हैं।

प्र. 171 : क्या संयतेन्द्रिय होने के लिये इन्द्रियों के व्यापार का निषेध उचित है ?

उ. : यदि इन्द्रियों के व्यापार के निषेध-मात्र से आदमी संयतेन्द्रिय हो जाय, तो अंधों, बहरों, गूंगों को सबसे अधिक संयतेन्द्रिय होना चाहिये, क्योंकि न वे आँख से देखते हैं, न कानों से सुनते है और न मुँह से बोलते हैं।

प्र. 172 : धर्म में कौन-सी विशेषता होने से हम उसे 'सांदृष्टिक' कह सकते हैं।

उ. : हम उसी धर्म को "सांदृष्टिक" कह सकते हैं, जिस के आदेशों के अनुसार आचरण करने से यहीं 'सुफल' की प्राप्ति हो, कालान्तर तक प्रतीक्षा न करनी पड़े। एक समय भगवान् सुह्म (देश) में शिलावती में विहार करते थे। उस समय भगवान् से थोड़ी ही दूर पर बहुत से अप्रमादी, उद्योगी, संयमी भिक्षु विहार करते थे।... वह गया और जाकर उन भिक्षुओं से बोला--

"आप सब प्रव्रजित, अति-तरुण" बहुत काले-केशवाले, भद्र, प्रथम-यौवन से युक्त हैं।... आप सब मानुष भोगों का भोग करें। कालान्तर में प्राप्त होनेवाले निर्वाण-सुख के पीछे पड़कर वर्तमान में भोगे जा सकने वाले काम भोगों के सुख को न छोड़े।"

ग्रन्थों में यह कथन 'मार' के मुंह में डाला गया है। मार चित्त की दुर्बलताओं की, चित्त की कुप्रवृत्तियों का ही दूसरा नाम है। वास्तव में

यह 'प्रेय' और 'श्रेय' का कलह सनातन है। एक मत है कि जो कुछ भी 'प्रेय' है जो कुछ भी इन्द्रियों को अच्छा लगता है, वही श्रेय (कल्याणकर) है; दूसरा मत है कि जो वास्तव में कल्याणकर है वही हमें प्रियकर होना चाहिये।

प्र. 173 : क्या अकेला 'योगाभ्यास' सहसा निर्वाण-प्राप्ति का साधन बन सकता है ?

उ. : नहीं। किसी भी दिशा में प्रगति क्रमशः ही होती है। एक समय भगवान् चालिय में चालिका पर्वत पर विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् मेघिय भगवान् के हजूरी थे। एक दिन आयुष्मान् मेघिय ने भगवान् से कहा—"भन्ते ! मैं पूर्वाह्न समय.. जन्तुग्राम में भिक्षाटन के लिये गया। भोजन के बाद कृमिकाला नदी के तीर पर गया। वहाँ मैंने सुन्दर रमणीय आम्रवन देखा। मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ कि यह योगाभ्यास करने के लिये उपयुक्त स्थान है। यदि भन्ते ! भगवान् मुझे आज्ञा दे, तो मैं योगाभ्यास के लिये उस आम्रवन में जाऊँ।"

भगवान बोले—"मेघिय ! मैं अकेला हूँ। जब तक कोई दूसरा भिक्षु न आ जाय, तब तक ठहरो।"

मेघिय ने तीन बार आग्रह किया। तब भगवान बोले—

"मेघिय ! जो योगाभ्यास (प्रधान) करने की बात करता हो, उसे अब और क्या कहूँ ? तू जो करना उचित समझे वह कर।"

तब आयुष्मान् मेघिय आसन से उठकर, भगवान् को अभिवादन कर जहाँ वह आम का बाग था, वहाँ गये। जाकर उस आम्रवन में एक वृक्ष के नीचे बैठे। उस समय योगाभ्यास करने में तत्पर आयुष्मान् मेघिय के मन में तीन तरह के संकल्प-विकल्प बार बार आते थे—(१) काम-भोग संबंधी संकल्प-विकल्प, व्यापाद (क्रोध) सम्बधी संकल्प-विकल्प तथा विहिंसा (हिंसा) सम्बधी संकल्प-विकल्प।

आयुष्मान् मेघिय ने सायंकाल जाकर भगवान् को इस की सूचना दी, शिकायत की।

भगवान् बोले—"मेघिय ! अपरिपक्व चित्तवाले को योगाभ्यास

आरम्भ करने से पहले अपने चित्त को परिपक्व बनाना चाहिये। उस के साधन हैं–(१) सत्संगति, (२) सदाचार, (३) सदुपदेश,(४) सदाचरण तथा (५) प्रज्ञावान् होना।

"मेघिय! इन पाँच बातों में प्रतिष्ठित होने पर भिक्षु को (१) राग (आसक्ति) के नाश के लिये अशुभ (शरीर के जिगुप्सित रूप की) भावना करनी चाहियें। (२) वितर्क के नाश के लिये आना–पान स्मृति (श्वास प्रश्वास के प्रति जागरूक रहना) की भावना करनी चाहिये। (३) व्यापाद (क्रोध) के नाश के लिये मैत्री की भावना करनी चाहिये। (४) अहंकार के नाश के लिये अनित्यता की भावना करना चाहिये। (५) अनात्मसंज्ञी होने के लिये भी अनित्यता की भावना अनिवार्य हैं। अनात्मसंज्ञी के अहंकार का मूलोच्छेद हो जाता है। वह इसी जन्म में निर्वाण को प्राप्त करता है।

प्र. 174 : यह जो नये कपड़े के टुकड़ें काट–काटकर भिक्षुओं के चीवर सिये जाते हैं, क्या यह सदा से इसी तरह सिलते रहे हैं ?

उ. : नहीं। आरम्भ में तो सम्भवत: भिक्षु फटे चीथड़ों की बनी गुदड़ी ही पहनते रहे प्रतीत होते हैं। बाद में हो चीवर-सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन होने के कारण और देश–काल सम्बन्धी परिस्थितियाँ बदल जाने के कारण, ये नाना प्रकार के चीवर धारण किये जाने लगे है। इन चीवरों में जो यह चौकोर खाने कटे–सिले रहते हैं, ये मगध के खेतों की हूबहुब नकल हैं। भगवान् ने आनन्द को मगध के खेतों जैसे चीवर बनाने का आदेश देकर अपना प्रकृति–प्रेम भी प्रदर्शित कर दिया था।

कटे–सिले चीवरों का एक फायदा नह है कि यदि कोई इन्हें चुरा ले, तो धो डालनें पर भी, रंग उतार देने पर भी, इन्हें कोई छिपा नही सकता। धुल जाने पर भी ये पहचान लिये जा सकते है।

प्र. 175 : यह जो किसी भिक्षु का चीवर, गुलाबी–सा होता है, किसी का पीला सा, किसी का काला-पीला सा, तो क्या यह भिक्षुओं के बड़े-छोटेपन के हिसाब से होता है ?

उ. भिक्षुओं के चीवरों के रंग का उन के बड़े–छोटेपन से किसी भी

तरह का सम्बन्ध नहीं। चीवरों का रंग व्यक्तिगत रुचि--अरुचि का प्रश्न है। पुराना रंग तो मात्र 'काषाय' रहा है। 'काषाय' को कुछ लोग 'गेरुआ' रंग समझते हैं। 'गेरुवे' वस्त्र को 'काषाय–वस्त्र' कहना गलती है। काषाय–रंग पेड़ की छाल को उबाल कर तैयार किया जाता रहा है और आज भी कहीं–कहीं तैयार किया जाता है। सिंहल–स्याम-बर्मा सदृश बौद्ध देशों में चीवरो का बनना भी एक संगठित उद्योग है। बिना किसी पूर्व--आर्डर के भी आप बाजार से जितने चाहें उतने चीवर खरीद सकते हैं। यह दोहराना अनावश्यक है कि इन चीवरों के रंग आधुनिक मशीनों द्वारा तैयार किये गये, बाजारों में बिकनेवाले रंग होते है।

प्र. 176 : यह जो कोई भिक्षु "एक कंधा नंगा" रखें देखे जाते हैं और कोई कोई गुलुबन्द से लपेटे रहने की तरह, दोनों कन्धे ढके देखे जाते हैं, क्या इन में कुछ अन्तर होता है ?

उ. : हाँ, इन दोनों व्यवहारों के दो पक्ष अवश्य हैं। भगवान् ने भिक्षुओं को अच्छी तरह शरीर ढके (सुआच्छादित) रखकर नगर में जाने को कहा। फिर भिक्षुओं के प्राय: एक कंधे को नंगा रख भगवान् बुद्ध की वंदना करने के उल्लेखों की भी कमी नहीं। प्रस्तर-शिल्प में दोनों तरह के नमुने दिखाई देते है। एक मत-वाले एकांश (एक कंधा खुला रखने) को 'उचित पहनाव' मानते हैं, दूसरे मत-वाले उभयांस (दोनों कंधे ढकने) को। इन दोनों परस्पर विरोधी मतों में व्यवहारिक समाधान यही है कि गर्मियों में एक कंधा नंगा रखा जाय और सर्दियों में दोनों कंधे ढका लिये जायें; क्योंकि वस्त्र प्रधान रूप से बदन को सर्दी-गरमी से बचाने के लिये ही है। भगवान् ने इसी उद्देश्य से भिक्षुओं को तीन चीवरों के उपयोग की आज्ञा दी है --

"भिक्षओ, तीन चीवरों की अनुज्ञा देता हूँ-- (१) दोहरी संघाटी, (२) एकहरा उत्तरा-संघ तथा (३) एकहरा अन्तर्वासक (लुंगी)।"

प्र. 177 : लाख संभलकर रहने पर भी भिक्षुओं से भी गलतियाँ होती होंगी, उन अपराधों के लिये संघ–द्वारा स्वीकृत छोटे–मोटे 'दण्ड' भी होंगे। क्या किन्हीं अपराधों का ऐसा दण्ड भी दिया जा सकता है

कि भिक्षु को संघ से निकाल ही दिया जाय ?

उ. : हाँ ऐसे अपराध भी हैं, जिनका अपराधी–भिक्षु संघ का सदस्य नहीं रह सकता, अर्थात् भिक्षु नहीं बना रह सकता। कौन से चार ? (१) किसी स्त्री के साथ सहवास करना, (२) कोई इतनी बड़ी चोरी करना, जितनी बड़ी चोरी के लिये राजा न्यायतः दण्ड दे सके, (३) मनुष्य–घात करना, (४) करामात (उत्तरीय मनुष्यधर्म) दिखा सकने की झूठी डींग मारना।

थाईलैण्ड आदि देशों में जहाँ भिक्षु–शासन को राजाज्ञा का समर्थन प्राप्त है, इन नियमों का पालन हो सकता है। किन्तु अन्य देशों में जहाँ 'विनय' के 'नियमों' को सरकारी अनुबल प्राप्त नहीं, इन नियमों का पालन होना शक्य नहीं।

प्र. 178 : कुछ लोगों के मत में पुरुष–स्त्री समागम केवल स्वाभाविक हैं, बल्कि शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक है। तब क्या उसे "अपराध," और ऐसा "अपराध" कि "अपराधी" को संघ से ही निकाल बाहर किया जाय, मानना चिन्त्य नहीं है ?

उ. : यह नियम पुरुष–स्त्री संसर्ग के प्राकृतिक–परिणामों को, पिता–माता बन जाने की संभावना को, दृष्टि में रखकर बनाया गया लगता है। यदि संतानोत्पत्ति का खतरा न होता, तो निश्चय से इस अपराध का गुरुत्व कुछ कम माना गया होता।

भिक्षु विनय में 'स्वप्न–दोष' को 'दोष' नहीं माना गया है, और कथा–वत्थु के अनुसार एक मान्यता यह भी रही है कि अर्हतों तक को 'स्वप्न–दोष' होता है।

प्र. 179 : क्या भिक्षुओं के लिये मात्र तीन–चीवरों का ही विधान है ? तब स्नान करने के समय यदि एक अंतर्वासक (लूंगी) पहन कर स्नान करते होंगे, तो बदलने के लिये दूसरी लूंगी कहाँ से आती होगी ?

उ. : नहीं। तीन चीवरों के अतिरिक्त भिक्षु नहाने के लिये एक अतिरिक्त वस्त्र भी रख सकते हैं, जो स्नान–शाटिका (नहाने का वस्त्र) कहलाती है।

प्र, 180 : क्या भगवान् हमेशा अकेले ही चारिका करते थे ? क्या कोई एक भी भिक्षु ऐसा नहीं था, जो स्थायी–रूप से भगवान् की सेवा में रत रहता हो ?

उ. : भगवान् कभी अकेले चारिका करते थे, कभी कोई–न–कोई भिक्षु उन का पात्र–चीवर लेकर उन का अनुचर हो साथ चलता था। जब भगवान् की आयु ढलने लगी, तब उन्होंने एक बार एकत्रित भिक्षु संघ से कहा––

"भिक्षुओं, अब मैं वृद्ध (५६) वर्ष का हूँ। कोई–कोई भिक्षु 'इस मार्ग से चलो' कहने पर दूसरे से जाते हैं, कोई–कोई मेरा पात्र–चीवर जमीन पर भी रख देते हैं। मेरे लिये एक नियत–उपस्थाक (स्थायी सेवक) खोजो।"

महास्थविर आनन्द ने भगवान् का स्थायी-सेवक बनना स्वीकार किया। किन्तु इस से पहले उन्हों ने भगवान् के सामने अपनी आठ शर्तें– रखी (१) भगवान् को जो बढ़िया चीवर मिलें, वह कभी मुझे न दें, (२) भगवान् को जो विशिष्ठ भोजन मिले, वह मुझे न दें, (३) भगवान् मुझे अपने साथ अपनी गंधकुटी में न रखें, (४) भगवान् मुझे निमंत्रण में साथ लेकर न जायें। इस प्रकार ये चार निषेधात्मक प्रार्थनायें थीं। इन के अतिरिक्त शेष चार याचनायें भी थीं : (१) भगवान् मेरे स्वीकार किये निमंत्रण में जायें, (२) मैं दूसरे राष्ट्र या दूसरे जनपद से आनेवाले व्यक्ति को उस के आने के समय ही भगवान् का दर्शन करा पाऊँ (३) मैं जब भी चाहूँ, भगवान् के पास आ सकूं, (४) भगवान्, यदि मेरे परोक्ष में उपदेश करें, तो फिर दुबारा मुझे वही धर्मोपदेश दें।"

भगवान् ने आनन्द की सभी शर्तें स्वीकार कीं। आनन्द प्रज्ञावान् थे, समयासमय के ज्ञाता थे। उन्होंने भगवान् का परिनिर्वाण होने तक अनन्य–भाव से भगवान् की सेवा की।

बुद्धत्व-प्राप्ति के बीस वर्ष बाद तक भगवान् कभी कहीं, कभी कहीं वर्षावास करते रहे। बाद में २५ वर्ष तक या तो जेतवन में वर्षावस किया, या विशाखा द्वारा बनवाये पूर्वाराम में। इन २५ वर्षों में

महास्थविर आनन्द छाया की तरह भगवान् के अनुचर बने रहे ।

प्र. 181 . जब किसी भी महापुरुष की किर्ति बहुत फैल जाती है, तो विरोधी लोग उसे अयशस्वी करने के लिये भी नाना प्रयास करते हैं। क्या भगवान् के जीवन में भी ऐसे अवसर आये ?

उ. : क्यों नहीं ? एक बार तैर्थिकों (अन्य मतावलम्बी साधुओं) ने चिंचा-माणविका को बीच में डालकर भमवान् पर "चारित्रिक दोष" ही लगाया था । जिस समय भगवान् धर्म सभा में धर्मोपदेश दे रहे थे, वह खड़ी होकर बकने लगी--

"महाश्रमण ! लोगों को धर्मोपदेश देते हो । तुम्हारा शब्द मधुर है । अब मैं तुम से गर्भ-प्राप्त हो, पूर्ण-गर्भा हो गई हूँ । न मुझे प्रसूति-घर बतलाते हो, न स्वयं ही दूसरी कोई व्यवस्था करते हो । अभिरमण ही जानते हो, गर्भ-उपचार नहीं जानते ?"

भगवान् ने धर्मोपदेश रोक सिंह की तरह गरज कर कहा---

"बहन ! तेरे इस कथन की सचाई-झुठाई को या मैं जानता हूँ या तू स्वयं जानती है ।"

चिंचा माणविका का परदा फाश हो गया था । लोगों ने उसे बहुत-बहुत धिक्कारा ।

प्र. 182 : भगवान् ने भिक्षुओं को बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, विचरने की आज्ञा दी । क्या भिक्षु केवल उपदेश देकर ही 'बहुत जनों का हित, बहुत जनों का सुख' सम्पादित कर सकते हैं ? अथवा इस के अतिरिक्त और भी कुछ कर सकते हैं ?

उ. : केवल वाणी से ही नहीं, भिक्षु अपने शरीर से भी दूसरों का हित साध सकते हैं । साध सकते हैं ही नहीं, उन्हें साधना चाहिये । एक समय एक भिक्षु को पेट की बीमारी थी । वह अपने पेशाब पाखाने में पड़ा हुआ था । भगवान् आयुष्मान् आनन्द को लिये जहां वह भिक्षु था वहाँ पहुँचे । जाकर उस भिक्षु को पूछा-"भिक्षु ! तुझे क्या रोग है ?" "भगवान् ! पेट की बीमारी है ।" "भिक्षु ! तेरा कोई परिचायक है ?" "भगवान् मेरा कोई परिचायक नहीं ।" "भिक्षु । तेरी सेवा क्यों नहीं

करते ?" भन्ते ! मैं भिक्षुओं का कुछभी प्रत्युपकार करने में असमर्थ हूँ, इसलिये वे भी मेरी सेवा नहीं करते ।" तब भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द को कहा–"आनन्द ! जा, पानी ला, इस भिक्षु को नहलायेंगे ।" आनन्द पानी लाये । भगवान् ने पानी ड़ाला । आयुष्मान् आनन्द ने धोया । भगवान् ने सिर से पकड़ा । आयुष्मान् आनन्द ने पाँव से । उठाकर चारपाई पर लिटाया । तब भगवान् ने इसी प्रकरण में भिक्षुओं को एकत्रित करा कहा–" भिक्षुओं, तुम्हारी माता नहीं, पिता नहीं, जो कि तुम्हारी सेवा करेंगे । यदि तुम एक दूसरे की सेवा नहीं करोगे, तो कौन करेगा ? जो रोगी की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है । यदि उपाध्याय रोगी हो (और अच्छा न होता हो) तो जीवन भर उपाध्याय की सेवा करनी चाहिये । यदि आचार्य हो. . यदि शिष्य हो. . .यदि गुरु–भाई हो और वह रोगी हो (और अच्छा न होता हो) तो उन की भी जीवन-भर सेवा करनी चाहिये । यदि उपाध्याय, आचार्य, शिष्य, गुरु–भाई कोई भी न हो तो संघ की सेवा करनी चाहिये ।"

प्र. 183 : क्या भिक्षु केवल भिक्षु की ही सेवा करे, अथवा किसी गृहस्थ की भी सेवा कर सकता है ?

उ : भगवान् ने यह नहीं कहा कि जो रोगी भिक्षु की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है, बल्कि भगवान् का कथन है कि जो रोगी की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है । भिक्षु को चाहिये कि जहाँ कोई गृहस्थ किसी रोगी गृहस्थ की सेवा कर सकनेवाला हो, वहाँ अपने वचन से उसे प्रेरित कर, उत्साहित कर, उस से रोगी गृहस्थ की सेवा करावे । जहाँ कोई न हो, वहाँ अपने हाथ से भी करे ।

प्र. 184 : भगवान् बुद्ध ने दुःख, दुःख–समुदय, दुःख–निरोध तथा दुःख–निरोध–प्रतिपदा का उपदेश दिया है । दूसरे लोग भी दुःख, दुःख-समुदय, दुःख–निरोध, दुःख निरोध–प्रतिपदा का ही उपदेश देते हैं । तो भगवान की देशना में और उन की देशना में क्या अन्तर है ?

उ. : दुःख है, इस बात को तो कौन नहीं जानता–मानता ? वैमत्य दुःख के हेतु के बारे में है । कुछ लोग कहते हैं कि आदमी जो कुछ

भी इस जन्म में भला-बुरा भुगतता है, उस का कारण उस के पूर्वजन्मों के कर्म ही होते हैं। भगवान् बुद्ध इस मत से सहमत नहीं थे। इसलिये उन का दुःख-क्षय का मार्ग ही भिन्न था। कुछ लोग कहते हैं कि आदमी जो भी सुख-दुःख भोगता है यह सब ईश्वरकृत होता है। भगवान् इस मत को भी नहीं मानते थे। इसलिये उन का दुःख-क्षय का मार्ग ईश्वर-निर्माण-वादियों की प्रतिपदा से भी भिन्न है। कुछ लोग कहते हैं कि जो कुछ सुख-दुख होता है, वैसा होना स्वाभाविक है। इस बारे में पुरुषार्थ निष्प्रयोजन है। भगवान् बुद्ध इस मत को भी नहीं मानते थे। इसलिये उन की दुःख--क्षय की निश्चित प्रतिपदा है।

प्र. 185 : तो भगवान् बुद्ध क्या मानते थे ? यदि पूर्व-कर्मवाद भी मानते थे, यदि ईश्वर-निर्माणवाद भी नहीं मानते थे, यदि स्वभाववाद भी नहीं मानते थे, तो क्या मानते थे ?

उ. : भगवान् बुद्ध दुःख को प्रत्ययों से उत्पन्न मानते थे। प्रत्ययों के न होने से, न रहने से, दुःख का अवश्यम्भावी क्षय मानते थे। उन का कथन है, "भिक्षुओं, जैसे कोई पुरुष किसी स्त्री में अनुरक्त हो, अत्यधिक आसक्त हो; वह उस स्त्री को दूसरे पुरुष के साथ खड़ी, बात करती, हँसती देखे; तो क्या मानते हो, भिक्षुओ ! उस स्त्री को दूसरे पुरुष के साथ खड़ी, बात करती, हँसती देख, क्या उस पुरुष को शोक-दुःख-दौर्मनस्य नहीं होगा ?"

"भन्ते ! होगा।"

"सो किसलिये ?"

"भन्ते ! वह पुरुष उस स्त्री में अनुरक्त है अत्यधिक आसक्त है। इसलिये उस स्त्री को दूसरे पुरुष के साथ खड़ी, बात-करती हँसती देख, उस पुरुष को शोक-दुःख-दौर्मनस्य होंगे।"

"तब भिक्षुओं, उस पुरुष को ऐसा हो---मैं उसी स्त्री में अनुरक्त हूँ, अत्यधिक आसक्त हूँ। इस स्त्री को दूसरे पुरुष के साथ खड़ी, बात-चीत-करती, हँसती देख मेरे मन में शोक-दुःख-दौर्मनस्य पैदा होते हैं। क्यों न मैं इस स्त्री में मेरा जो अनुराग है, मेरी जो आसक्ति है, उसे छोड़

दूं ? वह पुरुष उस स्त्री में उस का जो अनुराग है, जो आसक्ति है, उसे छोड़ दे । फिर दूसरे समय वही पुरुष उस स्त्री को दूसरे पुरुष के साथ खड़ी, बातचीत-करती, हँसती देखे । तो क्या मानते हो, भिक्षुओं, क्या उस त्री को दूसरे पुरुषके साथ खडी, बातचीत-करती, हँसती देखे, उस पुरुष को अब भी शोक--दुःख--दौर्मनस्य पैदा होंगे ?

"भन्ते ! नहीं।"

"सो किसलिये ?"

"भन्ते ! वह पुरुष उस स्त्री से वीत-राग है । उस के मन में उस के लिये कोई आसक्ति नहीं।"

"इसी प्रकार भिक्षुओं ! भिक्षु भी अनासक्त होकर दुःख का क्षय करता है । इस अनासक्ति के अभ्यास के लिये ही आर्य–अष्टांगिक मार्ग है।"

प्र. 186 : तो वह जो लोग कहते हैं कि व्यक्ति और संसार दोनों ईश्वरनिर्मित है, क्या यह मत सर्वथा अमान्य है ?

उ. : व्यक्ति तथा संसार को ईश्वर–निर्मित मानने के लिये पहले 'ईश्वर' के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है । जब ईश्वर का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं, तो ईश्वर-निर्माण अपने में असिद्ध हैं ।

प्र. 187 : ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करने में क्या बाधा है ?

उ. : किसी के भी अस्तित्व को सिद्ध करने की जिम्मेदारी उस व्यक्ति की होती है, जो उस मत को अंगीकार करता हैं । जब तक न प्रत्यक्ष–प्रमाण से और न अनुमान–प्रमाण से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है, तबतक हमारे लिये उस का अस्तित्व असिद्ध ही है ।

प्र. 188 : ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व का सब से बड़ा प्रमाण उन के शास्त्र हैं ।

उ. : ईश्वरवादियों के वेद–शास्त्र उन के लिये प्रमाण हो सकते हैं । यह आवश्यक नहीं कि हम भी उन्हें प्रमाण मानें । फिर बौद्ध–धर्म तो शब्द–प्रमाण को ही स्वीकार नहीं करता । इसलिये बौद्धों के तो किसी भी वेद शास्त्र को मानने न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

प्र. 189 : सृष्टि के आदि–कारण को ईश्वर मानने में क्या आपत्ति है ?

उ. : कोई भी कारण या तो निमित्त–कारण हो सकता है या उपादानकारण । कुम्हार ने मिट्टी से घड़ा बनाया । कुम्हार निमित्त–कारण है, मिट्टी उपादान–कारण । क्या ईश्वर सृष्टि का वैसा ही कारण है जैसे कुम्हार घड़े का ? यदि वैसा ही कारण है तो जिस प्रकृति से वा जिस सामग्री से उस ने सृष्टि का निर्माण किया, उस प्रकृति या उस सामग्री को किस ने बनाया ? इस के दो उत्तर हो सकते हैं । एक तो यह कि ईश्वर ने इस सृष्टि को बिना किसी उपादान–कारण के ही बनाया । यदि ऐसी बात हैं तो क्या यह सारी दुनिया 'जादूगर का खेल' मात्र है । यदि यह प्रत्यक्ष दुनिया 'जादूगर का खेल' मात्र ही है, तब उस अप्रत्यक्ष ईश्वर के अस्तित्व का क्या विश्वास ? दूसरा उत्तर यह हो सकता है कि उस ने 'स्वयं अस्तित्व में आई प्रकृति' से सृष्टि की रचना की । तब आपत्ति है कि यदि प्रकृति स्वयं अस्तित्व में आ सकती है, तो यह सृष्टि भी बिना किसी ईश्वर की मध्यस्थता के क्यों अस्तित्व में नहीं आ सकती ? यदि कहीं बिना कारण के कोई कार्य नहीं घटता, इसलिये ईश्वर को कारण–स्वरूप मानना आवश्यक है, तो फिर ईश्वर के ही अस्तित्व में आने का क्या कारण है ? यदि कहो कि वह स्वयं–भू है, तो फिर सृष्टि को भी स्वयं–भू क्यों न माना जाय ? सृष्टि निर्मित नहीं हुई, सृष्टि अपने पूर्व–रूप से शनैः–शनैः विकसित हुई है ।

हो सकता है कि ईश्वर को सृष्टि का उपादान–कारण मानने की बात को ही उपस्थित किया जाय । सिद्धान्त है कि उपादान–कारण के गुण ही उस वस्तु में आते हैं, जो उस उपादान–कारण से बनती है । अब हम सृष्टि में इतना अन्याय, अनाचार, अनीति देखते हैं, तो क्या वह ईश्वर भी अन्यायी, अनाचारी तथा अनैतिक है ? यदि कहो कि सृष्टि के ये गुण सृष्टि में ईश्वर से नहीं आये, ये बाहर से आये हैं, तो बताओ कि बाहर कहाँ से आये हैं ? क्या ईश्वर के अतिरिक्त और भी कोई वस्तु विद्यमान है ? यदि है, तो फिर ईश्वर न सर्व-व्यापक है, न सर्वशक्ति-

मान। सर्व-व्यापक इसलिये नहीं, क्योंकि वह उस के अतिरिक्त जो अस्तित्व विद्यमान है, उस अस्तित्व में अभाव-रूप से ही उपस्थित है, और सर्वशक्तिमान् इसलिये नहीं कि बिना उस की शक्ति के ही वह वस्तु अस्तित्व में आ गई।

प्र. 190 : तो क्या बौद्ध निश्चयात्मक रूप से अनीश्वरवादी हैं ?

उ. : वे निश्चयात्मक रूप से अनीश्वरवादी हैं। कुछ लोग भ्रमवश ऐसा मानते हैं कि भगवान् बुद्ध ईश्वर के बारे में मौन थे, और स्वार्थ-वश ऐसा कहते हैं कि भगवान् बुद्ध से जब ईश्वरके बारे में पूछा गया, तो वे मौन रहे; किन्तु ये दोनों निराधार बातें हैं।

प्र. 191 : ईश्वर की स्थापना को न हिलने देने में ईश्वरवादियों का क्या स्वार्थ है ?

उ. : ईश्वरवादियों की दो स्थापनायें हैं। (१) इस सृष्टि को ईश्वर ने बनाया। (२) वह ईश्वर न्यायी है। यदि यह दोनों बातें मान ली जाती हैं, तो इस से यह बात अनायास सिद्ध हो जाती है कि जो कुछ इस दुनिया में है, वह सब 'न्याय' ही 'न्याय' है। सरासर दिन-दहाड़े होते दिखाई देनेवाले अन्याय पर 'न्याय' का परदा पड़ जाता है।

प्र, 192 : तो क्या ईश्वर को 'न्यायी' नहीं माना जा सकता ?

उ. : जब कोई 'ईश्वर' हो, तो उसे कुछ भी मानने न मानने का प्रश्न उपस्थित होता है। जब 'ईश्वर' है ही नहीं, तो उस सृष्टि-कर्ता, सर्वव्यापक, सर्वान्तरयामी, न्यायी, करुणानिधान आदि कुछ भी नहीं माना जा सकता। ये सभी विशेषण भयभीत अन्धविश्वासी मानव के हृदय की उपज मात्र हैं।

प्र. 193 : तब संसार की अधिकांश जनसंख्या ईश्वर को क्यों मानती है ?

उ. : संसार की अधिकांश जन-संख्या का अनीश्वरवादी है। सारा बौद्धजगत अनीश्वरवादी है। सारा मार्क्सिस्ट-जगत अनीश्वरवादी है। अबौद्ध भारतीय दार्शनिकों में भी अधिकांश अनीश्वरवादी हैं। इस प्रकार 'अनीश्वरवादी' ही अधिक हैं।

प्र. 194 : यह तो ठीक है कि बौद्ध लोग 'शब्द' प्रमाण को नहीं मानते तब मानते किसे हैं ?

उ. : बौद्ध लोग 'प्रत्यक्ष' तथा 'अनुमान' दो प्रमाणों को मानते हैं, और दोनों के भी ऊपर अपने 'विवेक' को। क्योंकि अन्त में मनुष्य का अपना विवेक, मनुष्य की अपनी बुद्धि को ही किन्हीं भी प्रमाणों को स्वीकार करना पड़ता है अथवा उन का तिरस्कार करना पड़ता है। एक समय भगवान् कोसल (जनपद) में चारिका करते समय जहाँ कालामों का केस-पुत्त नामक निगम था, वहाँ पहुँचे। केसपुत्तीय कालामों ने भगवान् से प्रश्न किया——

"भन्ते ! कोई कोई श्रमण-ब्राह्मण केस-पुत्त में आते है, अपने ही मत को प्रकाशित करते हैं, दूसरे के मत का खण्डन करते हैं। भन्ते ! दूसरे भी कोई कोई श्रमण ब्राह्मण केस-पुत में आते हैं, वे भी अपने ही मत को प्रकाशित करते हैं, दूसरे के मत का खण्डन करते हैं। भन्ते ! हम सन्देह में पड़ जाते हैं, हम निर्णय नहीं कर पाते हैं कि किस का कथन ठीक है और किस का कथन गलत ? कौन सच कहता है, कौन झूठ ?"

भगवान् ते समाधान किया—"कालामो ! तुम्हारा सन्देह अपनी जगह ठीक है। सन्देह ही ज्ञान का जनक है। किन्तु कालामो ! तुम किसी भी बात को इसलिये सत्य मत मानो कि यह तुम्हारी श्रुति है, इसलिये भी सत्य मत मानो कि ऐसा तुम परम्परा से मानते चले आये हो, इसलिये भी सत्य मत मानो कि तुम्हें लगता हो कि 'यह तो ऐसा ही है', इसलिये भी सत्य मत मानो कि यह तुम्हारे पिटक (धर्म-शास्त्र) द्वारा अनुमोदित है, इसलिये भी सत्य मत मानो कि यह तर्क-संगत है, इसलिये भी सत्य मत मानो कि यह नय (न्याय) हेतु से सिद्ध है, इसलिये भी सत्य मत मानो कि कहनेवाले का व्यक्तित्व आकर्षक है, इसलिये भी सत्य मत मानो कि यह तुम्हारे चिर-विचारित मत के अनुकूल है, इसलिये भी सत्य मत मानो कि इस बात के कहनेवाले का रूप सुन्दर है तथा इसलिये भी सत्य मत मानो कि इस का कहनेवाला

हमारा श्रद्धाभाजन–आचार्य है। कालामो ! जब तुम्हारा अपना विवेक कहे कि यह बात सदोष है, तो इसे सदोष मानो–जानो, जब तुम्हारा अपना विवेक कहे कि यह बात निर्दोष है, तो इसे निर्दोष मानो–जानो।"

यह कालामा–सूक्त विश्व के वाङ्मय में मानवी–विवेक की स्वतन्त्रता का श्रेष्ठतम घोषणा–पत्र माना जाता है।

प्र. 195 : आदमियों का विवेक तो कम–ज्यादा होता है। बुद्धि भी कम ज्यादा होती है। तब किस के विवेक और किस की बुद्धि को ठीक माना जाय ?

उ. : अपने ही विवेक को, तथा अपनी बुद्धि को बच्चों के लिये यह उचित है कि वह अपने बड़ों की बुद्धि का महत्व स्वीकार करें; किन्तु यदि बड़ों का कथन भी किसी बड़े आदमी को न पटता हो, तो उसे उस कथन को अस्वीकार करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये।

प्र. 196 : यदि हम अयनों से बड़ों की बुद्धिको ही प्रमाण मान कर चलें तो, इस में क्या हर्ज है।

उ. : 'अपनें से बड़े' तो अनेक जन हो चुके हैं, हैं और सम्भवतः आगे भी होंगे। तो किस 'अपने से बड़े' की बुद्धि को प्रमाण माना जायगा ? और किसी की भी बात को प्रमाण मानने न मानने का निर्णय तो हमें अपनी बुद्धि से ही करना होगा। इसलिये अन्त में यही कहना श्रेयस्कर है कि स्व–बुद्धि को तुच्छ न समझा जाय। उसी का भरोसा रखना प्रगतिशीलता की प्रथम कसौटी है।

प्र. 197 : क्या बुद्धधर्म केवल दुःख-क्षय का रास्ता दिखाता है अथवा क्या यह सुख–प्राप्ती का भी साधन है ?

उ. : जिस प्रकार निरोग होना और स्वास्थ्य लाभ करना एक ही बात को कहने के दो भिन्न ढंग मात्र है, उसी प्रकार दुःख, क्षय तथा सुख–लाभ करना भी शब्द ही माना हैं, अर्थ की दृष्टि से समान–भाव लिये हैं। एक बार भगवान् आलवी में गाय–बैल के आने–जाने के मार्ग में सिंसपावन में पत्तों के बिछौने पर ही विराजमान थे। टहलने के लिये बाहर निकले, हस्तक-आलवक ने भगवान् से कुशल–क्षेम पूछा––

" भन्ते ! भगवान् सुख से तो सोये ? "

" हाँ कुमार ! सुख से सोया, जो लोक में सुख से सोते हैं मैं उन में से एक हूँ । "

" भन्ते ! (यह) हेमन्त की शीतल रात, हिम-पात का समय . . . गो-कंटक हत (गायों के खुरों के निशानवाली) कड़ी भूमि है, बिछे पत्तों का आसन पतला है, वृक्ष की छाया घनी नहीं है, काषाय-वस्त्र शीतल है . . . "तब भी भगवान् ऐसा कहते हैं--" हाँ कुमार ! सुख से सोया । "

" तो कुमार ! तुझे ही पूछता हूँ, जैसा तुझे (ठीक) लगे, वैसा उत्तर दे । . . . कुमार ! किसी गृहपति या गृहपति पुत्र का लिपा-पुता वायु-रहित द्वार बन्द खिड़की-बन्द कोठा हो . . . वहाँ ऐसा पलंग हो, जिस पर चार अंगुल पोस्तीन बिछी हो, कालीन के तकिय हों, और ऊपर वितान हो तथा तेल-प्रदीप भी जल रहा हो । सेवा के लिये चार भार्यायें हाजिर हों । कुमार ! तो वह सुख से सोयेगा या नहीं ? "

" भन्ते ! वह सुख से सोयेगा । लोक में जो सुख से सोते हैं, वह उन में से एक होगा । "

" कुमार ! तो क्या मानते हो, यदि उस गृहपति-पुत्र को, राग से उत्पन्न होनेवाली शारीरिक या मानसिक जलन हो, तो उस शारीरिक अथवा मानसिक परिदाह के रहते भी क्या वह सुख से सोयेगा ? "

" भन्ते ! नहीं । "

" कुमार ! राग से उत्पन्न जिस जलन के कारण गृहपति या गृहपति-पुत्र सुख से नहीं सो सकते, तथागत की राग से उत्पन्न होनेवाली वह जलन जड़मूल से नष्ट हो चुकी है । इसलिये मैं सुख से सोया . . . तो क्या मानते हो कुमार ! यदि उस गृहपति या गृहपति-पुत्र को द्वेष से उत्पन्न होनेवाली शारीरिक या मानसिक जलन हो . . . यदि उस गृहपति या गृहपति-पुत्र को मोह से उत्पन्न होनेवाली शारीरिक या मानसिक जलन हो, तो उस शारीरिक या मानसिक परिदाह के रहते भी क्या वह सुख से सोयेगा ? ',

" भन्ते ! नहीं । "

"कुमार ! द्वेष से उत्पन्न जिस जलन के कारण. . .मोह से उत्पन्न जिस जलन के कारण गृहपति या गृहपति-पुत्र सुख से नहीं सो सकते, तथागत की द्वेष से उत्पन्न होनेवाली मोह से उत्पन्न होनेवाली वह जलन जड़मूल से नष्ट हो चुकी है इसलिये मैं सुख से सोया।"

निस्सन्देह नींद को अच्छे आस्तरण की जरूरत नहीं होती। कहावत है ही कि सूली पे भी आ जाती है नींद। सुखपूर्वक सोने में चित्त की शान्ति ही प्रधान अंग है। किन्तु उस के साथ यदि सुखद आस्तरण हो, तो वह भी नींद आने में सहायक-कारण हो सकता है। ऐसा लगता है कि यहाँ भौतिक पक्ष सर्वथा उपेक्षित हो गया है।

प्र. 198 : यह जो कहा जाता है कि जाति जरा-मरण के नाश के लिये सिद्धार्थ-गौतम ने गृह-त्याग किया, तो पैदा तो वे हो ही चुके थे, उसके नाश का प्रश्न नहीं उठता, बूढ़े वे हुए हो, रोगी भी हुए तथा परिनिर्वाण (मरण) को भी प्राप्त हुए, तब जाति-जरा-मरण से मुक्ति कहाँ सिद्ध हुई ?

उ. : इस प्रश्न का सांपरायिक समाधान तो यही है कि इस के बाद उन का जन्म-मरण नहीं हुआ। यही शरीर-धारण अंतिम था। किन्तु सांदृष्टिक समाधान यह है कि वह जरा, व्याधि, मरण की भीति से उत्पन्न होनेवाली विकलता से मुक्त हो गये थे। यही भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सांदृष्टिक मुक्ति हैं। कृपा-गौतमी ने अपनी आपबीती इस प्रकार सुनाई--

"मुझे निर्धन समझ कर सभी मेरा तिरस्कार करते थे। जब मैं माता बनी, तब सबको प्रिय हुई। वह बच्चा सुन्दर था, कोमलांग था, सुख में पला था। वह मुझे प्राण-समान प्रिय था। वह यम-लोक सिधारा। मैं दीन रोती-बिलखती पुत्र के शव को लिये घूम रही थी। किसी ने मुझे कहा---"उत्तम भिषग् (वैद्य) के पास जा।" मैं बुद्ध के पास गई और कहा--"मुझे पुत्र-संजीवन औषध दो।' बुद्ध ने कहा--"जिस घर में आजतक कोई मरा न हो, उस घर से सरसों के दाने ला।" मैं घर घर घुमी। मुझे सारी श्रावस्ती में वैसा घर न मिला। मैं सरसो के दाने कहाँ

पाती ! मुझे होश आया--"यह मरण न एक घर का धर्म है, न एक कुल का धर्म है, न एक जाति का धर्म है..... यह तो प्राणि-मात्र का धर्म हैं। जो भी पैदा होता है, वह मरता ही हैं।" मैं लोक-नायक (बुद्ध) के पास गई। मुझे दूर से ही आते देख भगवान् ने कहा-- "उत्पत्ति-विनाश को न देखते हुए सौ वर्ष जीने से, उत्पत्ति-विनाश को देखते हुए, एक दिन का जीना श्रेयस्कर है।....अनित्यता का कोई अपवाद नहीं। मैं प्रव्र-जित हुई और बुद्ध की देशना के अनुसार आचरण कर शीघ्र ही अर्हत्व को प्राप्त हुई-मृत्यु-भय से मुक्त हुई।"

प्र. 199 : अपराधी का अपराध प्रमाणित हो जाता है, तो वह शासन द्वारा दण्ड़ित किया ही जाता हैं। क्या भगवान् बुद्ध ने दण्ड़-नीति का समर्थन किया है ?

उ. : भगवान् बुद्ध ने कहीं भी दण्ड-नीति का विरोध नहीं किया है। अपराधी को यदि उस के दुष्कर्म की सजा मिलती है, तो भगवान् ने उस के दुष्कर्म को ही जिम्मेदार ठहराया है, न कि न्यायाधीश को। लेकिन किसी-किसी हालत में भगवान् ने क्षमा-नीति को दण्ड-नीति से भी अधिक फलदायिनी कहा है। अंगुलिमाल डाकू की कथा इस का प्रमाण है।

प्र. 200 : यह जो अंगुलिमाल फिल्म बनी है, क्या इस की कथा बौद्ध-परम्परा के अनुरूप है ?

उ. : कुछ अंशों में हैं, कुछ में नहीं। मूल-कथा इस प्रकार है कि कोसल राजा के पुरोहित की मैत्रायणी नामक भार्या की कोख से एक बालक ने जन्म ग्रहण किया था।.......नाम रखते वक्त उसका नाम 'अहिंसक' रखा गया। उस को विद्या सीखने के लिये तक्षशिला भेजा। वह निःशुल्क विद्यार्थी बन, विद्या ग्रहण करने लगा। वह व्रत-संपन्न, आज्ञाकारी, प्रयत्नवादी था। दूसरे ईर्षालु माणवक सोचने लगे कि इस का कुछ उपाय करें। सबसे अधिक प्रज्ञावान् होने से वह उसे दुष्प्रज्ञ नहीं कह सकते थे, व्रत-युक्त होने से दुव्रती नही कह सकते थे, (सु-) जातिवाला होनेसे कुजात नहीं कह सकते थे। तब एक ने सुझाया- 'आचार्यायणी' को

बीच में डालकर इसे नष्ट करें ? वे विद्यार्थी तीन दलों में विभक्त हो गयें। पहले एक दल के माणवक आचार्य के पास जा वन्दना करके खड़े हुए –

"तातो ! क्या हैं ?"

"इस घर में एक कथा सुनाई देती हैं।"

"तातो ! क्या ?"

"हम समझते है कि अहिंसक माणवक आपके भीतर को दूषित कर रहा है ?"

"वृषलो (शूद्रो) जाओ। मुझ में और मेरे पुत्र में बिगाड़ पैदा मत करो।"

इस के बाद दूसरी टुकड़ी ने और तदनन्तर तीसरी टुकड़ी ने वही बात दोहराई। सभी ने कहा––'यदि हमारा विश्वास नहीं करते, तो स्वयं परीक्षा करके देखें।'

सशंक आचार्य ने आचार्यिणी तथा अहिंसक को विश्वस्थ ढंग से बातचीत करते देखा, तो उस का मन मलीन हो गया। सोचने लगा–– "क्या इसे मारू ?" लेकिन साथ ही सोचा–"यदि मारूंगा, तो लोग कहेंगे कि दिशा–प्रमुख आचार्य अपने पास आये माणवकों को दोष लगा-कर जान से मार डालता है। तब मेरे पास विद्या पढ़ने कोई न आयेगा। इस से मेरा लाभ–सत्कार नष्ट हो जायगा।" तब उस ने तै किया––"इसे विद्या–समाप्ति पर 'गुरुदक्षिणा दो' कह, सहस्त्र को मारने की आज्ञा दूंगा। मैं भी बदनामी से बच जाऊँगा, और सहस्त्र जनों में से कोई न कोई इसे भी मार डालेगा।"

आचार्य ने अहिंसक को कहा––"तात ! सहस्त्र को मारो। इस प्रकार तुम्हारी विद्या–समाप्ति की दक्षिणा पूरी होगी।"

"आचार्य ! हम अहिंस कुल में उत्पन्न हुए हैं, यह नहीं कर सकते।"

"तात ! दक्षिणा दिये बिना विद्या सफल नहीं होती !"

उस दिन से अहिंसक हत्यारा बन गया। वह किसी की भी धन-

सम्पत्ति नहीं लूटता था। केवल आचार्य की आज्ञा पालन करने के लिये लोगों को मारता था। अपने द्वारा मारे गये लोगों की गिनती कर सकने के लिये उन की अंगुलियाँ काट–काट कर 'माला' में पिरोता जाता था। इसीलिये उस का नाम 'अंगुलिमाल' हुआ।

इस कथानक के अनुसार अंगुलिमाल तो केवल अपने आचार्य की आज्ञा का पालन कर रहा था। सारी दुष्टता के मूल में वह ब्राह्मण आचार्य ही था, और उस के भी मूल में उस की वह मिथ्या–धारणा थी, जो उसी के दूसरे शिष्यों द्वारा रचे गये षडयन्त्र के फलस्वरूप उस के मन में जड़ जमाकर बैठ गई थी।

अंगुलिमाल फिल्म में ब्राह्मण–आचार्य को 'अपयश' से बचाने के लिये सारा कथानक ही बदल दिया गया है। सुना गया है इस फिल्म का आधार थाई भाषा में लिखा कोई उपन्यास है। असम्भव नहीं कि उपन्यासकार ने ही बहुत कुछ घटा–बढ़ा दिया हो। किन्तु किसी बौद्ध–उपन्यासकार का बौद्ध जनता के लिये ही लिखे गये किसी उपन्यास में इस प्रकार का 'गड़बड़ घोटाला' करना सहज सम्भाव्य नहीं।

फिर लगातार तीन घण्टे तक जनता का मनोरंजन करने के लिये और उस माध्यम से पैसा कमाने के लिये जिस 'अंगुलिमाल' का निर्माण हुआ हो, उस के द्वारा उस उद्देश्य की भी पूर्ति होनी ही चाहिये।

यूं सब मिलाकर 'अंगुलिमाल' का कथानक स्वाभाविक है, मनोरंजक है और सन्देश शिक्षाप्रद।

प्र. 201 : बौद्ध–धर्म में स्त्रियों का क्या स्थान है ? यदि किसी घर में पुत्र जन्म ग्रहण करे, तो यह अधिक अच्छी बात है, पुत्री जन्म ग्रहण करे, यह अधिक अच्छी बात है ?

उ. : यह प्रश्न न धार्मिक है, न सामाजिक है, बल्कि आर्थिक है। स्त्रीसत्ता–युग के बाद जब पुरुष–सत्ता–युग आरम्भ हुआ, तो पुरुष ही परिवार का केन्द्र बन गया। सभी क्षेत्रों में पुरुष की प्रधानता स्थापित हो गई। उस समय समाज में ऐसी मिथ्या–दृष्टि प्रचारित की गई कि यदि किसी पिता को पुत्र की प्राप्ति न हो, तो उस की सद्गति नहीं

होती। पुत्र ही परम्परा को चलानेवाला होता है। पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिये पुत्र का यह धर्म है कि वह भी पिता बने—पुत्री का पिता नहीं, पुत्र का पिता ! एक समय भगवान् श्रावस्ती. . .जेतवन में, विहार करते थे। उस समय राजा प्रसेनजित कोसल, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। तब एक पुरुष (ने) जहाँ राजा प्रसेनजित कोसल था, वहाँ. . .जा राजा प्रसेनजित कोसल के कान में कहा—"देव ! मल्लिका देवी ने कन्या-प्रसव किया।" उस के ऐसा कहने पर राजा प्रसेनजित खिन्न हुआ। भगवान् ने राजा प्रसेनजित को खिन्न जान, कहा—

'हे जनाधिप ! स्त्री भी पुरुष से श्रेष्ठ होती है— वह मेधाविनी, शीलवती श्वशुर-देवः (ससुर को देवता माननेवाली) पतिव्रता होती है। उस से जो पुरुष उत्पन्न होता है वह शूर, दिशाओं का पति (छत्रपती) होता है। वैसी सौभाग्यवती का पुत्र राज्य पर शासन करता है।"

अनेक 'महापुरुषों' को 'महापुरुष' बनानेवाली उन की जननियाँ ही हुई हैं।

प्र. 202 : भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं के लिये जो नियम बनाये, क्या वे सभी कालों के लिये, सभी देशों के लिये, समान रूप से लागू होनेवाले हैं ?

उ. : नहीं। अनेक नियम केवल काल-प्रज्ञप्तियाँ हैं; अर्थात् सीमित समय के लिये; उसी प्रकार अनेक नियम केवल देश-प्रज्ञप्तियाँ हैं, अर्थात सीमित-प्रदेश के लिये। आयुष्मान् कात्यायन ने आयुष्मान् सोणकुटिक कण्ण के माध्यम से अवन्ति-दक्षिणा-पथ के लिये कुछ विनय-नियमों में परिवर्तन सुझाये थे, जिन्हें भगवान् ने स्वीकार किया था। जैसे मध्य-मण्डल में, जिस प्रकार भिक्षु सुलभ थे, उस प्रकार अवन्ति-दक्षिणा पथ में नहीं। भगवान् ने मध्यमण्डल की सीमा से बाहर भी केवल पाँच भिक्षुओं द्वारा ही किसी की भी उपसम्पदा किये जाने को विहित ठहरा दिया। इसी प्रकार और भी कई परिवर्तन स्वीकार किये। सारा विनय-

पिटक भगवान् बुद्ध द्वारा स्वीकार किये गये, देश–कालानुसार किये गये परिवर्तनों से भरा पड़ा है।

प्र. 203 : क्या किसी का रंग रूप, वेश–भूषा और बाह्य आचरण आदमी का वास्तविक परिचायक होता है ?

उ. : कभी होता भी है, कभी नहीं भी होता। एक सीमा तक होता भी है, एक सीमा तक नहीं भी होता। एक समय भगवान् श्रावस्ती मृगारमाता के प्रसाद पूर्वाराम में विहार करते थे। उस समय भगवान् सायंकाल के समय, ध्यान से उठकर, द्वारकोष्ठक (फाटक) के बाहर बैठे थे। राजा प्रसेनजित कोसल जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया।

उस समय नख–लोम बढ़ाये, अपनी–अपनी झोली लिये बहुत से साधु भगवान् के थोड़ी दूर से ही गुजरे। तब राजा प्रसेनजित ने जिधर से वे साधु गुजर रहे थे, उधर तीन बार अपना नामोच्चारण कर नमस्कार किया––

"भन्ते ! मैं राजा प्रसेनजित कोसल हूँ।"

उन्हें नमस्कार कर राजा अपने स्थान पर आ बैठा और बोला-

"भन्ते ! लोक में जो अर्हत् हैं, या अर्हत्-मार्ग पर आरुढ़ है, ये उन में से कुछ हैं।"

"राजन् ! आदमी पहचाना जाता है दीर्घ सहवास द्वारा और वह भी प्रज्ञावान् आदमी द्वारा।"

राजा ने तीन बार अपनी बात दोहराई। भगवान् ने भी तीनों बार, राजा के कथन का खण्डन किया। तब प्रजेनजित् को सच्ची बात स्वीकार करनी पड़ी। बोला––

"भन्ते ! आप का यह कहना यथार्थ है, अद्भुत है कि आदमी पहचाना जाता है चिर–सहवास द्वारा और वह भी बुद्धिमान् आदमी द्वारा। भन्ते ! ये सारी साधु–मण्डली मेरे चर–पुरुष हैं। लोगों के सामने मैं इन्हें नमस्कार करता हूँ। ये गाँव–गाँव घूम कर, नगर–नगर घूम कर मुझे वहाँ के समाचार ला लाकर देते हैं। दूसरे समय यह गृहस्थ–वेश

में काम-भोगों में लिप्त रह विचरते हैं।"

भगवान् ने कहा--राजन् ! रुप-रंग से ही आदमी नहीं पहचाना जा सकता। किसी को देखते ही उस पर विश्वास न कर लेना चाहिये। संयमी रूप-रंगवाले भी वास्तव में असंयमी जीवन बिताते हुए, इस लोक में विचरते हैं। नकली मिट्टी के बने कुण्ड की तरह, या स्वर्ण से ढके लोहे के सिक्के की तरह, बाहर से शोभायमान किन्तु भीतर से अशुद्ध-जीवन व्यतीत करते हुए विचरते हैं।"

प्र. 204 : कोई-कोई कहते हैं कि सभी से प्रेम करो, कोई-कोई कहते हैं कि किसी से प्रेम न करो। इस विषय में बौद्ध-धर्म का क्या आदेश है ?

उ. : जैसे आदमी को भूख-प्यास लगती है, कोई जान-बूझ कर भूख-प्यास नहीं लगाता, ऐसे ही आदमी सामाजिक प्राणी होने से उस में अनायास ही 'प्रेम' भी जाग्रत हो जाता है। यह 'प्रेम' पुरुष-स्त्री में ही नहीं होता, पुरुष-पुरुष में भी होता है, स्त्री-स्त्री में भी होता हैं, पुरुष-पशु में भी होता है, पशु-पशु में भी होता है, अर्थात् 'प्रेम' करना प्राणी मात्र का साधारण धर्म है। प्रिय-वस्तु अथवा प्रिय-व्यक्ति का मिलन निश्चयात्मक रूप से आनन्द-दायक होता है। उसी प्रकार उस का विछोह भी निश्चयात्मक रूप से दुःखदायक। 'मिलन' के आनन्द की कल्पना कर आदमी प्रिय-वस्तु अथवा प्रिय-जन की ओर आकर्षित होता है, 'विछोह' के दुःख से दुखित होकर या उस की कल्पना कर आदमी वैराग्य के गीत गाने लगता है।

ऐसी भावना जिस में 'मिलन' का आनन्द हो, 'विछोह' का दुःख न हो, 'मैत्री-भावना' कहलाती है। सभी प्राणियों से 'प्रेम' करना और सभी से 'मैत्री' करना एक ही बात है। आदमी को 'प्रेम' का शूल तभी बींधता है, जब वह व्यक्ति-विशेष में केन्द्रित हो जाता है। कागज पर फैली हुई स्याही या रंगों का नाम 'चित्र' है; एक जगह गिरी हुई स्याही या रंगो का नाम 'धब्बा' है। इसीलिये भगवान् बुद्ध ने 'प्रेम' को दुःख का जनक का है; लेकिन सभी प्राणियों से 'मैत्री'

करने का आदेश दिया है।'

प्र. 205 : जहाँ तक चैतसिक–भावना का प्रश्न है, वहां तक मैत्री सभी के प्रति की जा सकती, है, किन्तु जहाँ किसी के लिये कुछ करने का प्रश्न होता है, किसी की कुछ सेवा करनी होती है, तो व्यक्ति का चुनाव करना ही पड़ता है ? व्यक्ति का चुनाव तो अनिवार्य है।

उ. : यह बात यथार्थ है 'समाज' की तो 'भक्ति' ही की जा सकती है, 'सेवा' तो 'व्यक्ति' की ही हो सकती है। इस लिये उसे यथा-सम्भव आसक्ति रहित होकर सम्पन्न किया जाय। आसक्ति–रहित सेवा ही व्यवहार के स्तर पर "मैत्री" कहलाती है।

प्र. 206 : संसार के इतिहास में सम्भवतः भगवान् बुद्ध ने ही सर्वप्रथम संगठित धर्म–प्रचार की नींव ड़ाली। उन्होंने ही सर्वप्रथम अपने भिक्षुओं को भिन्न–भिन्न जनपदों में धर्म–प्रचारार्थ भेजा। क्या उन भिक्षुओं के मार्ग में, प्रतिकूल परिस्थिति में, बाधायें नहीं उपस्थित होती थीं। तब वे क्या करते थे ?

उ. : भगवान् बुद्ध प्रत्यन्त जन–पदों में विचरनेवाले भिक्षुओं की परिस्थिति से अपरिचित नहीं थे। एक बार जब भिक्षु पुण्ण भगवान् को अभिवादन कर चारिका के लिये जाने लगा तो भगवान् ने पुण्ण से पूच्छा–

"पुण्ण ! तू किस जनपद में विहार करेगा ?"

"भन्ते ! मैं सूनापरान्त (वर्तमान थाना और सूरत के जिले के आसपास के भाग) जनपद में बिहार करूंगा।"

"पूर्ण ! सूनापरान्त के लोग प्रचण्ड हैं, कठोर स्वभाव के हैं। वे तुझे गाली-गलौज देंगे, तो तू क्या करेगा ?"

"भन्ते ! मैं सोचूंगा कि सूनापरान्त के लोग भद्र है, सुभद्र हैं, वे मुझ पर हाथ से प्रहार नहीं करते।"

"पुण्ण ! यदि सूनापरान्त के लोग तुझ पर हाथ से प्रहार करें तब तुझे कैसा लगेगा ?"

"भन्ते ! मैं सोचूंगा कि सूनापरान्त के लोग भद्र हैं, सुभद्र हैं, वे मुझे डण्ड़ों से नहीं मारते।"

"पुण्ण ! यदि सूनापरान्त के लोग तुझे डण्डों से मारें, तब तुझे कैसा लगेगा?"

"भन्ते ! मैं सोचूंगा कि सूनापरान्त के लोग भद्र हैं, सुभद्र हैं, वे किसी शस्त्र का प्रयोग कर, मुझे जान से नहीं मार डालते।"

"पुण्ण ! यदि सूनापरान्त के लोग किसी शस्त्र का उपयोग कर, तुझे जान से मार डालने लगें, तो तुझे कैसा लगेगा?"

"भन्ते ! मैं सोचूंगा, किसी–किसी को आत्महत्या करने के लिये शस्त्र खोजना पड़ता है, चलो, मुझे अनायास ही शस्त्र चलानेवाला मिल गया।"

भगवान् ने "साधु, साधु!" कह पुण्ण को आशीर्वाद दिया। बोले—"इस प्रकार की शान्त–भावना से युक्त तू निश्चय से सूनापरान्त में वास कर सकता है।"

आयुष्मान् पुण्ण सूनापरान्त पहुँचे। एक ही महीने के भीतर उन्होंने पाँच सौ उपासकों को अमृत-बोध कराया। किसी देश में हो, किसी युग में हो, ऐसे ही धर्म प्रचारक असाधारण सफलता प्राप्त करते हैं।

प्र. 207 : स्त्रोतापत्ति मार्ग–प्राप्त, स्रोतापत्ति फल-प्राप्त आदि जो आर्य (श्रेष्ठ) जनों के आठ भेद किये गये हैं, उन में स्रोतापन्न को कैसे पहचाना जाता है?

उ. : जो सत्संगति करता है, वह स्रोतापन्न है, जो धर्म श्रवण करता हैं, वह श्रोतापन्न है, जो यथार्थ रूप से विचार करता है, वह स्रोतापन्न है, जो धर्माचरण करता हैं, वह स्रोतापन्न है–ये सभी स्रोतापत्ती के अंग है।

प्र. 208 : कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध तीन बार लङ्का-द्वीप भी गये थे। क्या यह बात सत्य हैं?

उ. : हम किसी भी ऐतिहासिक घटना के बारे में साहित्यिक साक्षी पर ही भरोसा कर सकते है। परम्परा के अनुसार जो त्रिपिटक राजा वट्टगामणी के समय प्रथम शताब्दी में सिंहल-द्वीप में ही लिपिबद्ध हुआ, उस में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं है कि 'एक बार भगवान लङ्कादीप

में विहार करते थे'। हाँ चौथी–पाँचवीं शताब्दी में लङ्का में ही लिखे गये लङ्का के इतिहास 'महावंस' में इस बात का विस्तृत वर्णन अवश्य है कि भगवान् बुद्ध श्रीलङ्का में पधारे थे, और उन्होंने सोलह स्थानों को अपने चरण-स्पर्श से पवित्र किया था। क्योंकि भगवान् की चारिका पैदल ही होती थी, इसलिये अधिक संभावना इसी बात की है कि वे सुदूर समुद्र-पार श्रीलङ्का में नहीं ही पधारे होंगे।

प्र. 209 : भगवान का प्रधान चारिका-क्षेत्र कौन सा रहा है ?

उ.। भगवान् श्रावस्ती से कोसल, कोसल से मल्ल, मल्ल से वज्जी, वज्जी से काशी तथा काशी से मगध-जनपदों में ही अधिकांश विचरते रहते थे। यह सारा भू-भाग एक प्रकार से वर्तमान उत्तर-प्रदेश तथा विहार के अन्तर्गत आ जाता हे।

प्र. 210 : क्या भगवान् बुद्ध कभी बहुत छोटी छोटी बातों में भी भिक्षुओं का अनुशासन करते थे ?

उ. : भगवान किसी 'दोष' को भी इतना छोटा न समझते थे कि उस की उपेक्षा की जा सके। वास्तव में जिन्हें 'छोटी-बातें' कहकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है, वैसी 'छोटी बातों' को ही वे विशेष महत्व देते थे। एक बार भगवान् ने देखा कि कुछ भिक्षु देर तक खर्राटे लेते हुए सो रहे थे। भगवान ने ताड़ना की---

"भिक्षुओं, तुम स्थविर (ज्येष्ठ) भिक्षु से लेकर नये तक सभी सूर्योदय तक खर्राटे मारकर सोते हो। क्या तुम ने देखा हैं कि कोई राज्याभिषिक्त नरपति हो, वह दिन में सूर्योदय होने तक खर्राटे मारकर सोता रहा हो, और तब भी वह जनता का प्रिय–भाजन बन, जन्म भर राज्य करता रहा हो ?"

"भन्ते ! नहीं देखा।"

"साधु, साधु भिक्षुओं ! मैं ने भी नहीं देखा। इसलिये भिक्षुओं यही सीखना चाहिये कि हम संयतेन्द्रिय रहेंगे, भोजन के विषय में मात्रज्ञ रहेंगे, कुशल–धर्मों की भावना करने के लिये पूर्व–रात्री में तथा अपर–रात्री में जागते रहेंगे।

आदमी के व्यक्तित्व का विकास सतत जागरूकता से ही होता है ।

प्र. 211 : कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् के धर्म की तरह उन का शरीर भी लोकोत्तर था ?

उ. : यदि 'लोकोत्तर' का मतलब असाधारण लिया जाय, तो बात ठीक हो सकती है, क्योंकि सभी महापुरुषों का व्यक्तित्व असाधारण होता है; अन्यथा नहीं । एक समय भगवान् सायाह्न होने पर पिछवाड़े धूप में बैठे थे । तब आयुष्मान् आनन्द जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये । जाकर भगवान् के शरीर का स्पर्श करते हुए बोले–"भन्ते ! आश्चर्य है । भन्ते ! अद्भुत है । अब भगवान् की चमड़ी का रंग उतना परिशुद्ध, उतना स्वच्छ नहीं हैं, (जितना पहले था) । मात्र (अंग) शिथिल हैं । झुरियाँ पड़ी, हुई हैं शरीर आगे की ओर झुका है । चक्षुः आदि इन्द्रियों में भी परिवर्तन (विकृति) दिखाई पड़ती है ।"

"आनन्द ! यह ऐसा ही होता है । जहाँ जीवन है, वहाँ जरा है । जहाँ स्वास्थ्य है, वहाँ रोग है । जहाँ जीवन है, वहाँ मृत्यु है ।" भगवान् ने कहीं भी अपने शरीर को 'लोकोत्तर' नहीं कहा है । बाद के लोगों ने ही श्रद्धाधिक्य से भगवान् के शरीर को भी 'लोकोत्तर' बना दिया हैं ।

प्र. 212 : किन कारणों से देवदत्त भगवान का इतना विरोधी बन गया था ? उस ने तथागत को हानि पहुँचाने के लिये क्या–क्या नहीं किया था ?

उ. : देवदत्त की अनुचित महत्वाकांक्षा ने ही उसे धर्म–पथ से च्युत किया था । उस ने भगवान् को हानि पहुँचाने के लिये क्या नहीं किया । सर्वप्रथम तो उस ने अपने पिता तक की हत्या करके अजात–शत्रु को राज्यारूढ होने की सलाह दी । पिता को इस बात का पता लगा, तो राजा ने अपने से ही अजात शत्रु को राज्य सौंप दिया । तब देवदत्त ने राजा अजात–शत्रु के माध्यम से एक अधिक बार ऐसे प्रयत्न किये कराये कि जिन से भगवान् बुद्ध का प्राणान्त हो जाय । वह इस में सफल नहीं हो सका । चण्ड मनुष्य क्या, चण्ड हाथी तक भगवान् बुद्ध की करुणा–मैत्री के आगे नतमस्तक हो गये ।

तब देवदत्त ने एक और चाल चली। पाँच ऐसी बातें, जिन्हे सम्भवत: स्वयं देवदत्त भी जानता था कि भगवान् बुद्ध द्वारा कभी स्वीकारी नहीं जायेंगी, भगवान् के सामने स्वीकृति के लिये उपस्थित की। उस का अनुमान था कि जिन कुछ भिक्षुओं को उस के ये प्रस्ताव रुचेंगे, वे उस के अनुयायी बन जायेंगे। इस प्रकार भगवान् बुद्ध का भिक्षु-संघ आपस में विभक्त हो जायगा। उस का अनुमान ठीक निकला। कुछ ऐसे भिक्षु जो देवदत्त की चाल को समझने में असमर्थ थे, उसके चकमे में आ गये और उस के अनुयायी बन गये। किन्तु इस के कुछ ही समय बाद सारि-पुत्र तथा मौद्गल्यायन उन भिक्षुओं के पास पहुँचे और सभी को वापीस भगवान् की शरण में ले आयें।

प्र. 213 : क्या पवित्र मानी जानेवाली "गंगा-यमुना" आदि नदियों में स्नान करने से पाप का क्षय होता है ?

उ. : स्नान करने से शरीर का मैल दूर हो सकता है; मन भी एक सीमा तक प्रसन्न हो सकता है, किन्तु इस का कोई प्रमाण नहीं कि नदियों में स्नान करने से पाप का क्षय होता हो। उस समय बहुत से जटिल ठण्डी रातों में यह समझ कि ऐसा करने से पाप नष्ट होगा, ठण्ड़े जल में डुबकी लगाते, तैरते तथा बरसते पानी में भीगते थे। भगवान् ने उस अनेक जटिलों कों देखा। उस समय भगवान् के मुंहसे निकला-

"यहाँ बहुत से जन स्नान कर रहे हैं, यही समझकर कि पानी से शुद्धि होगी। पानी से मन की शुद्धि नहीं होती। जिस में सत्य तथा धर्म होता है, वहीं "पवित्र" कहलाता है।"

मिट्टी-पानी अपने में "पवित्र" नहीं होते। यह हमारी भावना ही है कि जो मिट्टी-पानी को पवित्रता प्रदान करती है।

प्र. 214 : क्या भिक्षु राजनीति में भाग ले सकता हैं ?

उ. : यह इस बात पर निर्भर करता है कि 'राजनीति' से हम क्या समझते हैं ? यदि 'राजनीति' का मतलब दो 'राजाओं' का, अथवा दो राजनीतिक-दलों का शक्ति के लिये परस्पर का संघर्ष मात्र है तो बुद्धिमानी इसी में है कि भिक्षु उस में भाग न लें; क्योंकि

तब वे दोनों दलों में से एक-न-एक को, कभी हो सकता हैं, दोनों को ही, अपना शत्रु अवश्य बनायेंगे। किन्तु यदि 'राजनीति' का मतलब देश की या समाज की शासन-व्यवस्था की सैद्धान्तिक--चर्चा मात्र हैं, तो समर्थ भिक्षु उस चर्चा में दिलचस्पी ले सकते हैं।

प्र. 215 : क्या भगवान् बुद्ध ने स्वयं कभी 'राजनीति' में दिलचस्पी ली थी ?

उ. : एक से अधिक ऐसे उदाहरण हैं, जिन से प्रतीत होता है कि भगवान् बुद्ध अपने समय की 'राजनीति' से परिचित थे, और प्रकरण –वश उस की चर्चा कर लेते थे। एक समय जब राजा मागध अजातशत्रु वैदेही–पुत्र सेना तयार कर, राजा प्रसेनजित कौशल से युद्ध करने गया था और उसे हरा दिया था, तथा दूसरे समय जब राजा प्रसेनजित कोसल ने ही अजातशत्रु वैदेही–पुत्र को हरा दिया था, तब दोनों अवसरों पर भिक्षुओं ने भगवान् को इस की सूचना दी थी। भगवान् नें दोनों अवसरों पर दोनों राजाओं के बारे में अपनी सम्मति प्रकाशित की थी।

और एक बार तो अजातशत्रु वैदेही–पुत्र के मन में जब वज्जियों पर आक्रमण करने का संकल्प पैदा हुआ, तो उस ने वर्षकार ब्राह्मण के माध्यम से भगवान् को इस की पूर्व–सूचना देकर उन की प्रतिक्रिया जाननी चाही थी। उस समय भगवान ने कहा था कि वज्जियों में सात विशेष गुण हैं : जब तक वज्जियों में वे सात विशेष गुण (अपरिहानिय धर्म) बने रहेंगे, वैदेही-पुत्र अजातशत्रु उन्हें पराजित न कर सकेगा।

प्र. 216 : कौन से थे वे सात विशेष गुण ?

उ. : (१) वज्जीगण समय समय पर अपनी सभाओं में सम्मिलित होते हैं। (२) वज्जिगण समय पर बैठक में उपस्थित होते हैं। (३) वज्जिगण अपने बनाये हुए कानून का प्रत्याख्यान नहीं करते तथा उस का पालन करते है। (४) वज्जिगण अपने बड़े बूढ़ों का आदर–सत्कार करते हैं। (५) वज्जिगण किन्हीं कुल–स्त्रियों या कुल–कुमारियों को जबर्दस्ती नहीं छीनते। (६) वज्जियों के नगर के भीतर या बाहर जो धार्मिक स्थान हैं, वे उन का आदर-सत्कार करते हैं। उन के

निमित्त यदि पूर्व का दिया हुआ कुछ 'दान' हो, तो उस का विलोप नहीं करते। (७) वज्जि-गण उन के जनपद में आनेवाले अर्हतों (योग्य व्यक्तियों) का आदर-सत्कार करते हैं, ताकि जो अर्हत् उन के जनपद में रह रहे हैं, वे सुखपूर्वक रहे तथा और दूसरे अर्हत् भी पधारें।

भगवान् के इस वक्तव्य से जहाँ वज्जियों के बारे में उन की सम्मति प्रकट होती है, वहाँ अजात-शत्रू वैदेही-पुत्र को इशारे से यह भी संकेत कर दिया गया सा लगता है, कि यदि वह वज्जियों पर आक्रमण करना ही चाहता है, तो उसे पहले वज्जियों के इन सात विशिष्ट गुणों को नष्ट करना पड़ेगा।

प्र. 217 : निगण्ठनाथ पुत्र (महावीर स्वामी) भगवान् बुद्ध के समकालीन थे। क्या दोनों में कभी परस्पर वाद-विवाद या धर्म चर्चा हुई थी ?

उ. इस विषय में बौद्ध-परम्परा की साहित्यिक साक्षी इतनी ही है कि जैन तीर्थङ्कर अपने शिष्यों को तो बीच बीच में भगवान् बुद्ध से शास्त्रार्थ करने के लिये भेजते थे, सम्भवतः वे स्वयं कभी नहीं पधारे थे। एक बार उन्हों ने अभय-राजकुमार को भगवान् बुद्ध से एक उभय-कोटि प्रश्न पूछने के लिये भेजा था। उभय-कोटि प्रश्न कहते हैं ऐसे प्रश्न को कि उत्तर देनेवाले से जिसका कुछ भी उत्तर न बन पड़े। जैसे कोई किसी से पूछे-- 'क्या तूने अपनी भार्या को पीटना छोड़ दिया है ?' यदि उत्तर देनेवाला कहे-- 'छोड़ दिया है,' तो इस का मतलब हुआ---आज तक पीटता रहा है। यदि कहे--' नही छोड़ दिया हैं, तो इस का मतलब हुआ, "अभी भी पींटता हूँ।"

प्र. 218 : भगवान बुद्ध के पास अभय राजकुमार कौन सा उभय-कोटि प्रश्न लेकर आया था ? भगवान् ने उस का क्या समाधान किया था ?

उ. : अभय राजकुमार ने पूछा था-- क्या श्रमण गौतम कभी कठोर भी बोलते है ? उस का इरादा था कि यदि कहेंगे कि 'नही बोलते है,' तो दो एक उदाहरण दूंगा, जिन में भगवान बुद्ध ने देवदत्त को

नारकीय (नरक–गामी) आदि कहा है। यदि कहेंगे कि "हाँ, बोलता हूँ", तब पुछूंगा कि ऐसी हालत में दूसरों की मधुर–वाणी के उपयोग का उपदेश क्यों देते हैं ? भगवान् बुद्ध का उत्तर था कि इस प्रश्न का उत्तर 'सर्वथा हां' या 'सर्वथा नहीं' नहीं दिया जा सकता। उस समय अभय राजकुमार की गोद में, एक बहुत ही छोटा बच्चा था। भगवान् ने पूछा—"राजकुमार ! यदि यह बच्चा तेरे या दाई के प्रमाद से मुंह में कुछ काठ या ढेला डाल ले, तो तू क्या करेगा ?"

"भन्ते ! निकाल लूँगा। भन्ते ! यदि मैं पहिले ही प्रयत्न में न निकाल सका, तो बायें हाथ से सीस पकड़ कर, दाहिने हाथ से अंगुली टेढ़ी कर, खून–सहित भी निकाल लूंगा।"

"ऐसा किस लिये ?"

"भन्ते ! मेरे मन में कुमार के लिये अनुकम्पा है।"

"राजकुमार ! ठीक इसी तरह से, तथागत जिस वचन को जानते हैं कि यह मिथ्या है, अनर्थकारी है तथा दूसरों को अप्रिय है, तथागत कभी नहीं बोलते। इसी प्रकार तथागत जिस वचन को सत्य, किन्तु अनर्थकारी तथा दूसरों को अप्रियकर जानते हैं, उसे भी तथागत नहीं बोलते। इसी प्रकार तथागत जिस वचन को सत्य, हितकर तथा दूसरों को अप्रिय लगनेवाला जानते हैं, उसे कालज्ञ तथागत कभी बोलते भी हैं। कभी नहीं भी बोलते। ऐसा किसलिये ? राजकुमार ! तथागत के मन में प्राणियों के प्रति अनुकम्पा हैं।"

प्र. 219 : क्या श्रमण होने के कोई सांदृष्टिक फल भी बताये जा सकते है ?

उ. : भगवान बुद्ध का सारा धर्म ही सांदृष्टिक है। इसी जन्म में दुःख का क्षय कर सकना ही श्रमण होने का श्रेष्ठतम सांदृष्टिक–फल है। अन्य फल तो गौण हैं।

प्र. 220 : भगवान बुद्ध के दोनों प्रधान शिष्यों–सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन का परिनिर्वाण कब हुआ ? तथागत के परिनिर्वाण के पूर्व या अनन्तर ?

उ. : दोनों का परिनिर्वाण तथागत के परिनिर्वाण के पूर्व ही हो गया था; फिर दोनों में भी सारिपुत्र का पहले और महामौद्गल्यायन का अनन्तर।

प्र. 221 : धर्म-सेनापति सारिपुत्र का परिनिर्वाण होने पर भगवान् बुद्ध की क्या प्रतिक्रिया हुई थी ?

उ. : सारिपुत्र, मौद्गल्यायन के परिनिर्वाण के समय भगवान् भिक्षु संघ के साथ, वज्जी-देश में, गंगा नदी के तीर पर उक्का चेल में बिहार कर रहे थे।...भगवान ने भिक्षु संघ को संबोधित किया--

"भिक्षुओं, जब तक सारिपुत्र-मौद्गल्यायन का परिनिर्वाण न हुआ था, मुझे यह परिषद् अ-शून्य सी जान पड़ती थी। भिक्षुओं, जब से सारिपुत्र-मौद्गल्यायन का परिनिर्वाण हुआ है, मुझे यह परिषद् शून्य सी जान पड़ती है। भिक्षुओं, जिस दिशा में सारिपुत्र-मौद्गल्यायन विचरते थे, उस दिशा को फिर और किसी की अपेक्षा नहीं रहती थी।... भिक्षुओं, आश्चर्य है कि इस प्रकार की जोड़ी के परिनिर्वृत हो जाने पर भी तथागत के मन में शोक, परेशानी नहीं है। भिक्षुओं, जो कुछ भी उत्पन्न होता है, उस का निरोध होता ही है। भिक्षुओं, इस की तनिक गुंजाइश नहीं कि जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है, उस का निरोध न हो। भिक्षुओं, जैसे किसी महान् वृक्ष के खड़े रहते भी, उस का सारवाला ताना टूटकर गिर जाय, ऐसा ही तथागत के लिये, भिक्षुसंघ के रहते सारिपुत्र-मौद्गल्यायन का परिनिर्वाण है .....इसलिये भिक्षुओं, अपने दीपक आप बनो, अपनी शरण आप ग्रहण करो, दूसरे की शरण मत ग्रहण करो।"

प्र. 222 : क्या भगवान् बुद्ध के धर्म में वेश्याओं तक के लिये भी स्थान था ? सुनते हैं कि वैशाली की प्रसिद्ध गणिका अम्बपाली ने भी भगवान् की शरण ग्रहण की थी।

उ. : अम्बपाली वैशाली की सामान्य-गणिका न थी। वह वैशाली को रूप-राजिनी थी। उस ने सुना कि भगवान् वैशाली पधारे हैं और उसी के आम्रवन में ठहरे हैं, तो वह भगवान् के दर्शनार्थ वहाँ पहुंची।

जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गई। एक ओर बैठी अम्बपाली गणिका को भगवान् ने धार्मिक कथा से संतुष्ट किया... समुत्तेजित किया। अम्बपाली गणिका ने भगवान् से प्रार्थना की—

"भन्ते! भिक्षुसंघ सहित आप मेरा कल का भोजन स्वीकार करें।'

भगवान् ने मौन रह स्वीकार किया।

लिच्छवियों को पता लगा, तो वे बड़े पछताये। उन्हों ने भी जाकर भगवान् को भोजन का निमंत्रण दिया।

समदृष्टि भगवान् बोले—

"लिच्छवियो! कल के लिये तो मैं ने आम्रपाली गणिका का निमंत्रण स्वीकार कर लिया है।"

लिच्छवी–जन अम्बपाली गणिका के पास पहुँचे। बोले--

"अम्बपाली! भगवान् को कल के भोजन के लिये दिया निमंत्रण हमें दे दे।"

"आर्य–पुत्रो! सारी वैशाली लेकर भी मैं कल का निमंत्रण न दूंगी।"

लिच्छवी परास्त हो गयें। कहने लगे--"इस गणिका ने हमें जीत लिया। इस गणिका ने हमें जीत लिया।"

अगले दिन आम्रपाली ने भिक्षु संघ सहित भगवान् को भोजन कराया और अपना आम्रवन भी 'बुद्ध प्रमुख भिक्षु संघ' को दान कर दिया।

प्र. 223 : **क्या भगवान् को कभी कोई तीव्र शारीरिक–वेदना भी हुई थी ?**

उ. : वेलू–ग्राम में वर्षावास करने के अनन्तर भगवान् को बड़ी तीव्र बीमारी हुई थी। भगवान् ने उसे किसी–न–किसी प्रकार अपने दृढ़ मनोबल से शान्त कर लिया। तब आयुष्मान् आनन्द, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठे। एक ओर बैठे आयुष्मान् आनन्द ने भगवान् को कहा--

"भन्ते ! मैं ने भगवान् को सुखी देखा । भन्ते ! मैं ने भगवान् को अच्छा हुआ देखा । भन्ते ! भगवान् की बीमारी से, मेरा शरीर शून्य हो गया था, मुझे दिशायें भी नहीं सूझती थी, मुझे धर्म तक का भान नहीं होता था । एक ही आश्वासन था—तब तक भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त न होंगे, जब तक भगवान् भिक्षुसंघ को कुछ कह—सुन न लेगें ।"

भगवान् बोले—"आनन्द ! भिक्षु संघ अब मुझ से और क्या आशा रखता है । मैंने बिना किसी भी बात को न अन्दर किये, न बाहर किये धर्मोपदेश दिये । आनन्द ! तथागत ने कोई भी बात अन्त समय प्रकट करने के लिये छिपा कर नहीं रखी । आनन्द ! मैं ने कभी भी यह नहीं सोचा कि भिक्षु—संघ मुझ पर निर्भर करता है । आनन्द । तथागत की ऐसी धारणा नहीं रही है. . .आनन्द ! अब तथागत भिक्षु—संघ के लिये और क्या कहेंगे ? आनन्द ! अब मैं जीर्ण हूँ, वय:प्राप्त हूँ, बूढ़ा हो गया हूँ । मेरी आयु अस्सी वर्ष की हो गई है । आनन्द ! जैसे कई पुराने छकड़े को बाँध—बूंध कर चलाता हैं, उसी प्रकार तथागत की शरीर यात्रा जैसे—तैसे चल रही है । . . .आनन्द ! जिस समय वेदनाओं के निरोध की अवस्था में तथागत बिना आलम्बन की समाधि में स्थिर रहते है, वह ही समय तथागत के लिये सुखद होता है । . . .इसलिये आनन्द ! अपने दीपक आप बनो, अपनी ही शरण जाओ, किसी अन्य की शरण नहीं ।"

प्र. 224 : तो क्या भगवान् ने भिक्षुओं को अपनी अन्तिम—अनुशासना के तौर पर कुछ भी कहना अनावश्यक समझा था ?

उ. : ठीक ऐसा ही नहीं हुआ लगता है । क्योंकि जिस समय भगवान् कूटागार शाला में थे, उस समय उन्होंने आनन्द को कहा था—"आनन्द ! जाओ वैशाली के पास जितने भिक्षु विहार करते हैं, उन सब को एकत्रित करो ।"

भिक्षुओं के एकत्रित हो चुकने पर, जहाँ उपस्थान—शाला थी, भगवान् वहाँ गये । बिछे आसन पर बैठ, भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया—

"भिक्षुओ, मैंने जो धर्मोपदेश दिये हैं, उन्हें तुम अच्छी तरह

सीखकर सेवन करना, भावना करना, बढ़ाना, जिसमे यह श्रेष्ठ जीवन चिरस्थायी हो, और इस से 'बहुत जनों का हित तथा बहुत जनों का सुख' हो। भिक्षुओं, मैंने (१) चार स्मृति-उपस्थों का उपदेश दिया है, (२) चार सम्यक्-प्रधानों का उपदेश दिया है, (३) चार ऋद्धिपादों का उपदेश दिया है (४) पाँच इन्द्रियों का उपदेश दिया है, (५) पाँच बलों का उपदेश दिया है, (६) सात बोध्यगों का उपदेश दिया है तथा आर्य अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया है। भिक्षुओं। मैं तुम्हें कहता हूँ–संस्कार अनित्य हैं, तुम अप्रमादी रहकर अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के प्रयास में लगे रहना। अचिरकाल में ही तथागत का परिनिर्वाण होगा। आज से तीन मास बाद ही तथागत परिनिर्वृत होंगे।"

यह सभी धर्म गिनती के हिसाब से सैंतीस है और 'सैंतीस बोधपक्षीय धर्म, कहलाते हैं। चार स्मृति–उपस्थान हैं, कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना, धर्मानुपश्यना। चार प्रयास (प्रधान) हैं–(१) अकुशल धर्मों की अनुपत्ति के लिये प्रयास करना (२) उत्पन्न बुराइयों के नाश के लिये प्रयास करना, (३) अनुत्पन्न कुशल–धर्मों की प्राप्ति के लिये प्रयास करना, तथा (४) उत्पन्न कुशल–धर्मों को बनाये रखने के प्रयास करना। चार ऋद्धिपाद हैं––(१) छन्द, (२) चित्त, (३) वीर्य तथा (४) विमर्श। पांच इन्द्रियाँ हैं–(१) चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा तथा त्वक्। यहाँ इन के बजाय, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा से अभिप्राय है। इन की भी संज्ञा 'इन्द्रिय' है। पाँच 'बल' भी यही हैं––श्रद्धा-बल, वीर्य–बल, स्मृति–बल, समाधि–बल तथा प्रज्ञा–बल। सात बोध्यगों में भी स्मृति, वीर्य तथा समाधि की गिनती की जाती है, शेष चार हैं–– धर्म–विचय, प्रीति–प्रश्रंधि तथा उपेक्षा। फिर आर्य अष्टांगिक मार्ग के अन्तर्गत भी स्मृति तथा समाधि आते ही हैं। शेष छः हैं––सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम। इस प्रकार यदि इन सैंतीस वोधि–पक्षीय धर्मो का जोड़ लगाया जाय तो उन का वास्तविक गिनती सैंतीस न होकर कुल पच्चीस रह जाती है। वे पच्चीस धर्म बौद्ध-धर्म का सार प्रतीत होते हैं।

अन्यथा भगवान् ने अथवा संगीतकारों ने इन्हें इतना महत्व न दिया होता।

प्र. 225 : क्या कभी भिक्षुओं के बीच में इस प्रकार का मत-भेद पैदा नहीं होता था कि यह बुद्ध-वचन है, अथवा नहीं है ? यदि ऐसा होता था, तो ऐसी परिस्थिति में भगवान् ने भिक्षुओं को क्या करने को कहा था ?

उ. : ऐसी परिस्थिती में से सही रास्ता खोज निकालने के लिये भगवान ने कहा–भिक्षुओं, यदि (कोई) भिक्षु ऐसा कहे––'आवुसो ! मैं नें इसे भगवान् के मुख से सुना, मुख से ग्रहण किया है, यह धर्म है, यह विनय है, यह शास्ता का (अनु-) शासन है, भिक्षुओं, उस भिक्षु के भाषण का न अभिनन्दन करना, न निन्दा करना। अभिनन्दन न कर निन्दा न कर, उन पद–व्यञ्जनों को अच्छी तरह सीखकर सूत्र से तुलना करना, विनय में देखना । यदि यह सूत्र से तुलना करने पर, विनय में देखने पर, न सूत्र में उतरते हों, न विनय में दिखाई पड़ते हों तो विश्वास करना कि यह भगवान् का बचन नहीं है; इस भिक्षु का ही दुर्गृहीत है ऐसा (होने पर) भिक्षुओं, उस को छोड़ देना। यदि वह सूत्र से तुलना करने पर, विनय में देखने पर, सूत्र में भी उतरता हो, विनय में भी दिखाई देता हो, तो विश्वास करना कि यह अवश्य भगवान् का बचन है; इस भिक्षु का यह सुगृहीत है।"

भगवान् बुद्ध के जीवन–काल में ही जब उन के वचनों के बारे में सन्देह पैदा होने की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, तो अब तो उन के परिनिर्वाण को ढाई हजार वर्ष हो गये हैं (इस कथन में यह बात ध्यान देने की है कि सूत्र और विनय के साथ अभिधर्म का कहीं उल्लेख नहीं है। क्या इसलिये कि उसके बारे में परम्परा है कि उस का उपदेश भगवान् ने त्रयोत्रिंश–लोक में दिया था ?)। भगवान् के जीवन–काल में 'सूत्र' तथा 'विनय' की प्रामाणिकता रही ही होगी; किन्तु आज तो सूत्र–पिटक तथा विनय–पिटक के उल्लेखों को भी विवेक की छलनी में से गुजारने की आवश्यकता आ पड़ी है।

प्र. 226 : क्या यह परम्परा ठीक है कि भगवान का अन्तिम भोजन चुन्द कर्मार-पुत्र का दिया हुआ 'सूअर का माँस' था ?

उ. : भगवान् के अन्तिम-भोजन के बारे में परम्परा है कि भगवान् भिक्षु संघ के साथ पावा (-नगरी) गये। वहाँ भगवान् चन्द कर्मारपुत्र के आम्रवन में विहार करते थे। चन्द कर्मार-पुत्र ने अगले दिन के लिये बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को भोजन करने का निमंत्रण दिया। भगवान् ने स्वीकार किया।

दूसरे दिन भोजन का समय होने पर भगवान् चुन्द कुर्मार-पुत्र के निवास-स्थान पर पहुँचे। चुन्द कर्मार-पुत्र ने बुद्ध-प्रमुख भिक्षु संघ के लिये बहुत-सा खाद्य-भोज्य और बहुत-सा शूकर मार्दव (सूकर मद्दव) तैयार कराया था।...

चुन्द कर्मार-पुत्र का भोजन ग्रहण कर भगवान् को खून गिरने की कड़ी बीमारी उत्पन्न हुई। मरणान्तक पीड़ा होने लगी। उसे भगवान् ने बिना घबरायें सहन किया।

इस प्रकरण में यह जो 'सुकर-मद्दव' शब्द आया है, इसी के विषय में पुराने समय से विवाद चला आ रहा है। एक मत है कि न बहुत तरुण, न बहुत बूढे, एक (वर्ष) बड़े सूअर का मांस, मृदु भी होता है, स्निग्ध भी होता है।...किसी का मत है कि नर्म चावल का पाँच गोरस से पकाया जूस ही सूकर-मद्दव कहलाता था, जैसे गोपान।...किसी का मत है कि सूकर-मद्दव नाम की कोई रसायस-विधि रही, जिस के अनुसार चुन्द कर्मार-पुत्र ने भगवान् के लिये विशेष-भोजन तैयार किया था।

करुणावतार भगवान को चुन्द का भोजन ग्रहण करने के अनन्तर जब कड़ी बीमारी हुई तो उन्हे अपनी बीमारी से अधिक इस बात की चिन्ता थी कि कहीं चुन्द कर्मार-पुत्र को यह सोचकर दु:ख न हो कि उस का भोजन ग्रहण करके ही भगवान् अत्यधिक बीमार हो गये और परिनिवृत हो गये। उन्होंने आनन्द को कहा- "आनन्द ! यदि कोई चुन्द कर्मार-पुत्र को कहें कि चुन्द तू बड़ा अभागा है कि भगवान् तेरे

भोजन को ग्रहण कर परिनिर्वृत हो गये, तो तू कहना कि चुन्द तू बड़ा भाग्यवान् है कि भगवान् तेरा भोजन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।"

प्र. 227 : प्रत्येक धर्म में कुछ स्थान तीर्थ-स्थान माने जाते हैं। बौद्धजन किन-किन स्थानों को तीर्थ-स्थान मानते है ?

उ. : बौद्धों के प्रधान तीर्थस्थान चार ही है- (१) जहाँ सिद्धार्थ-कुमार ने जन्म ग्रहण किया था, अर्थात् लुम्बिनी: (२) जहाँ सिद्धार्थ-कुमार ने बुद्धत्व लाभ किया था, अर्थात् बुद्ध गया; (३) जहाँ तथागत ने धर्म-चक्र प्रवर्तन किया था, अर्थात इसीपतन (सारनाथ) तथा (४) जहाँ तथागत ने परिनिर्वाण प्राप्त किया था, अर्थात कुसीनगर।

प्र. 228 : स्त्रियों के प्रति भिक्षुओं को कैसे बर्तना चाहिये ?

उ. : ठीक यही प्रश्न आनन्द ने भगवान् बुद्ध से पूछा था, "भन्ते ! हम स्त्रियों के प्रति कैसे क्या बर्ताव करें ?" भगवान् का उत्तर था, "उधर देखो ही नही।" देखने की स्थिति आने पर ?" "उन से बातचीत न करो।' बातचीत का अवसर आ पड़ने पर ?" संयतभाव से बातचीत करो।" कोई कोई भिक्षु स्त्रियों से बातचीत करते समय अथवा उन्हें उपदेश देते समय मूँह के सामने पंखा रख लेते हैं, ताकि लोग समझें कि वह स्त्रियों की ओर देखते तक नहीं। भगवान् ने व्यर्थ देखने का निषेध किया है, कुछ अन्धे बन जाने का आदेश नहीं दिया। इसी प्रकार व्यर्थ बातचीत न करने का आदेश दिया है, कुछ मुंह पर पट्टी बांध कर कर, गूंगा बन जाने का आदेश नहीं दिया।

प्र. 229 : भगवान् का तो जब परिनिर्वाण हो गया। उन के शरीर की अस्थियों के ही कुछ टुकड़े प्राप्त हैं। उन के प्रति क्या करना योग्य हैं ?

उ. : भगवान्ने तो भिक्षुओं को उनके अपने "शरीर की पूजा" न करने के लिये कहा है। उन्होंने भिक्षुओं को सदर्थ की सिद्धि में ही लगने के लिये कहा है। किन्तु, भगवान्ने कुछ भी कहा हो, जिन के उपदेश से हम सब का इतना उपकार हुआ है जिन के उपदेश से जगत का उद्धार हुआ है, उन के शरीर के प्रति हम भावना-शून्य कैसे हो सकते है ?

प्र. 230 : भगवान् बुद्ध के अन्तिम शिष्य कौन थे ?

उ. : जिस समय भगवान् परिनिर्वाण-शैय्या पर लेटे हुए थे, सुभद्र परिव्राजक के मन में हुआ कि यदि भगवान् का परिनिर्वाण हो गया, तो फिर और कोई नहीं, जो उसे सन्देह-मुक्त कर सके। वह भगवान् के दर्शनार्थ पहुंचा। तब आनन्द ने कहा—

"अब यह समय भगवान् को कष्ट देने का नहीं।"

सुभद्र ने जैसे भी हो भगवान् का दर्शन करने की अनुमति देने का आग्रह किया। भगवान् ने आनन्द तथा सुभद्र दोनों का वार्तलाप सुन लिया। बोले—

"आनन्द ! सुभद्र को आने दो। वह मुझे अधिक हैरान नहीं करेगा।"

भगवान् ने उसे समयानुकूल उपदेश दिया। सुभद्र परिव्राजक निशंक ही प्रव्रजित हुआ, उपसंपन्न हुआ। यही भगवान् बुद्ध का अन्तिम शिष्य था।

प्र. 231 : अनेक महापुरुष अपना शरीरान्त होने के पूर्व किसी न किसी को अपना स्थानापन्न बना गये हैं, अपनी गद्दी पर बिठा गये हैं। क्या भगवान् बुद्ध ने भी किसी को अपनी गद्दी पर बिठाया ?

उ. : नहीं! उन्होंने आनन्द को कहा था— "आनन्द ! सम्भव है कि मेरे परिनिर्वाण के अनन्तर तुम्हें ऐसा लगे कि हमारा कोई अनुशासक नहीं रहा। आनन्द ! ऐसा मत सोचना। मैंने तुम्हें जो धर्म और विनय उपदेश किये हैं, मेरे बाद उन्हें ही अपना शास्ता मानना।"

अध्यात्म के क्षेत्र में कोई भी किसी दूसरे का स्थानापन्न नहीं हो सकता। धर्म-राजा की राजगद्दी किसी को भी कैसे सौंपी जा सकती थी !

प्र. 232 : परिनिवृत होने से पूर्व क्या भगवान् ने और कोई महत्व-पूर्ण आदेश दिये ?

उ. : हाँ। एक (१) तो यही कहा कि "भिक्षुओ, मेरे परिनिर्वाण के अनन्तर भिक्षु परस्पर एक-दूसरे को केवल 'आवुस' कह कर न पुकारें। सम्बोधन में भी बड़े-छोटे का भाव स्पष्ट रखें। ज्येष्ठ भिक्षु अपने से छोटे

भिक्षु को 'आवुस' कहे या नाम से अथवा गोत्र से पुकारे। कनिष्ठतर भिक्षु अपने से ज्येष्ठतर भिक्षु को 'भन्ते' कहकर पुकारे। दूसरे (२) भिक्षुओ, मेरे परिनिवृत्त हो जाने पर छोटे–मोटे नियमों में हेर–फेर करने की आवश्यकता हो, तो हेर–फेर कर लेना।"

प्र. 233 : तो क्या भिक्षुओं ने भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर 'विनय के नियमों' में कुछ हेर–फेर किया ?

उ. : परम्परावादी भिक्षुओं का तो कहना है कि कुछ भी हेर–फेर नहीं किया। किन्तु 'विनय' के नियम परिवर्तित हुए हों या न हुए हों, भिक्षुओं का जीवन तो बहुत कुछ बदल ही गया है। ऐसा होना स्वाभाविक भी था और शायद आवश्यक भी।

प्र. 234 : भगवान के अंतिम-वचन क्या थे ?

उ. : भगवान् ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया। बोले––"भिक्षुओं, (यदि) बुद्ध, धर्म, संघ में एक भिक्षु को भी कुछ शंका हो, तो पूछ लो। भिक्षुओं! पीछे मत पछताना––शास्ता हमारे सम्मुख थे। हम ने पूछा!" किसी भिक्षु ने कुछ भी तो नहीं पूछा। अब यह पूछ–ताछ करने का समय भी कहाँ रहा था। तब भगवान् ने स्वयं कहा––"भिक्षुओ, मैं तुम्हें कहता हूँ। सभी संस्कार नाशवान हैं। अप्रमादी रहकर जीवन के लक्ष्य का संपादन करो। यही तथागत के अन्तिम वचन हैं।"

यदि अर्हत होना ही जीवन का लक्ष्य माना जाय, तो वह तो अधिकांश प्राप्त हो चुका था। अब भगवान् का आशय सेवाचर्या से ही रहा होगा। साधना का भी अन्तिम उद्देश्य सेवा ही है।

भगवान् परिनिर्वृत्त हो गये।

प्र. 235 : बौद्ध धर्म के अनुसार किसी का देहावसान हो जाने पर उसे दफनाना उचित है या जलाना ?

उ. : यह धर्म का नहीं, यह तो भौगोलिक तथा आर्थिक स्थिति का प्रश्न है। जहाँ लकड़ी सुविधा से मिल जाती हो, वहाँ जलाना ही ठीक है; जहाँ न मिलती हो, अथवा जिन्हें न मिलती हो, ऐसे लोगों का गाड़ना भी ठीक है। बौद्धों में जलाना, गाड़ना और पारसियों की तरह

गीधों को खिला देना–तीनों चलता है ।

प्र. 236 : भगवान् का तो दाह–संस्कार ही हुआ था न ? उन के शरीर की पवित्र धातु (अस्थियाँ) क्या हुई ?

उ. : भगवान् की पवित्र–धातु (अस्थियों) के चाहनेवाले बहुत थे । उन में झगड़ा होने तक की नौबत आ गई थी । द्रोण ब्राह्मण की मध्यस्था से झगड़ा नहीं हुआ । भगवान् बुद्ध की पवित्र–धातु के आठ हिस्से किये गये और बराबर–बराबर बँट गये । जिस बर्तन से अस्थियों का बँटवारा किया गया था, द्रोण–ब्राह्मण ने वह बर्तन अपने लिये माँग लिया ।

प्र. 237 : भगवान् की पवित्र अस्थियाँ किन्हें–किन्हें मिली ?

उ. : मगध केअजात–शत्रु को मिलीं, वैशाली के लिच्छिवियों को मिली । कपिलवस्तु के शाक्यों को मिलीं । अल्ल–कप्प के बुल्लियों को मिलीं । राम–ग्राम के कोलियों को मिलीं । वेठ–दीप के ब्राह्मणों को मिलीं । पावा के मल्लों को मिलीं । कुसीनारा (कुशीनगर) के मल्लों को मिलीं । सभी ने उन पर अपनी श्रद्धा के अनुरूप स्तूप बनवाये । लिखा है कि ' इस प्रकार आठ शरीर स्तूप तथा एक कुम्भ–स्तूप बना । चक्षु-मान (बुद्ध) का शरीर आठ द्रोण था, जिनमें से सात द्रोण जम्बुद्वीप में पूजित होते हैं । एक द्रोण रामग्राम के नागों द्वारा पूजित है । भगवान् की एक दाढ़ स्वर्ग–लोक में पूजित है । एक गन्धारपुर में पूजी जातो है । एक कलिंग राजा के देश में है; और एक को नागराज पूजते हैं ।"

जिन जिन स्थानों के नाम गिनाये हैं, वे सभी जम्बुद्वीप के भूगोल के अन्तरगत हैं । मात्र स्वर्ग–लोक अपवाद है ।

प्र. 238 : भगवान् के परिनिर्वाण के अनन्तर भिक्षुओं को प्रथम–संगीति करने की क्या आवश्यकता पड़ी थी ?

उ : जिस समय भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, उसी समय सुभद्र नामक एक बुद्ध प्रव्रजित कहता सुनाई दिया–" आयुष्मानो ! हम श्रवण गौतम के शासन से मुक्त हुए । हमेशा यही आदेश देता रहता था, यह करो और यह न करो । अब जो चाहेंगे, करेंगे, जो नहीं चाहेंगे, नहीं करेंगे ।" आयुष्मान् महाकाश्यप इस से चौकन्ने हो गये । उन्हों ने भिक्षुओं

को एकत्र कर कहा–"आयुष्मानो ! अधर्म बढ़ रहा है, धर्म का ह्रास हो रहा है; अविनय बढ़ रहा है, विनय का ह्रास हो रहा है। हम सूत्र (धर्म)–पिटक तथा विनय (–पिटक) का संगायन करें।" महास्थविर महाकाश्यप के उपाध्यायत्व में भिक्षु संघ ने राजगृह की सप्तपर्णी गुफा में धर्म (सूत्र) तथा विनय का संगायन किया। "सूत्र" के विषय में आनन्द–महास्थविर प्रमाण माने गये और "विनय" के विषय में उपालि–महास्थविर। महाकाश्यप ने आनन्द महास्थविर से "सूत्र" के विषय में प्रश्न पूछे और आयुष्मान् उपालि से "विजय" के सम्बन्ध में पूछे। दोनों ने विषयों में प्रामाणिक जानकारी दी। प्रथम संगीति सफल हुई। उस में सूत्र (-पिटक) के पाँचों निकयों और विनय के महावग्ग तथा चुल्लवग्ग सदृश ग्रन्थों का मौखिक सम्पादन किया गया। इस संगीति में भिक्षुओं कीं संख्या पूरी पाँच सौ थी, न एक भी अधिक और न एक भी कम; इसीलिये यह संगीति 'पंच–शतिका' कहलाती है।

प्र. 239 : सूत्र पिटक तथा विनय–पिटक के अन्तर्गत कौन–कौन हैं और वे मूलतः किस भाषा में लिखे गये ?

उ : सूत्र–पिटक के अन्तर्गत हैं–(१) दीर्घ–निकाय, (२) मज्झिम –निकाय, (३) संयुक्त–निकाय, (४) अंगुत्तर–निकाय तथा (५) खुद्दक -निकाय और विनय–पिटक के अन्तर्गत हैं–(१) महावग्ग, (२) चुलवग्ग (३) पाराजिका, (४) पाचित्तिय, (५) तथा परिवार। प्रथम संगीति में इन में से कोई भी ग्रन्थ लिपि-बद्ध नहीं हुआ। केवल मौखिक तौर पर दोहरा कर स्थिर कर लिया गया था। इस "मौखिक संपादन–कार्य" को ही संगीति कहते हैं। यह कार्य उस समय की बोलचाल की भाषा "मागधीं" में ही हुआ माना जाता है।

प्र. 240 : इस के बाद बौद्ध संघ को फिर "दूसरी संगीति" करने कि आवश्यकता क्यों अनुभव हुई। वह कब और कहाँ हुई ?

उ. : भगवान के सौ वर्ष बाद वैशाली–निवासी वृज्जि–पुत्र भिक्षु दस बातों का प्रचार करते थे। वे अपनी दृष्टि में "प्रगतिशील" रहे होंगे, किन्तु कट्टर–पन्थियों की दृष्टि में "दुःशील" थे। वे दस बातें

ऐसी ही थीं, जैसे– (१) सींग की बनी फुँफी में निमक रखा जा सकता है, (२) मध्याह्नोत्तर भूमध्य–रेखा से सूर्य के दो अंगुल आगे सरक जाने तक मध्याह्न भोजन समाप्त किया जा सकता है,. . . (१०) चाँदी–सोना ग्रहण किया जा सकता है। इन्हीं बातों पर मत–भेद होने के कारण वैशाली में दूसरी संगीति हुई। क्योंकि यह दूसरी संगीति केवल भिक्षु–नियमों को लेकर हुई थी, इसलिये यह "विनय–संगीति" कहलाती है और क्योंकि इस में सात सौ भिक्षु सम्मिलित हुए थे, इसलिये यह "सप्त–शतिका" भी कहलाती है।

प्र. 241 : सुनते हैं, इसके बाद एक और "तीसरी संगीति" भी हुई। वह कब, कहां और क्यों हुई ?

उ. : एक प्रकार से "तीसरी–संगीति" होने का कारण "दूसरी–संगीति" के ही समान था। महाराज अशोक के समय भिक्षुओं का लाभ–सत्कार बहुत बढ़ गया था। कुछ अन्य सम्प्रदायवाले "भिक्षु–वेश" ग्रहण कर अपने अपने मत का प्रचार करने लगे थे। बुद्ध–शासन के लिये यह एक बहुत बड़ा खतरा उपस्थित हुआ था। इस संगीति का उद्देश "संघ–शुद्धि" था; अर्थात् ऐसे भिक्षुओं को जो भगवान् बुद्ध के यथार्थ–धर्म के माननेवाले नहीं थे, संघ से निकाल बाहर करना। यह असम्भव नहीं कि जिन्हें संघ से बाहर निकाला गया, वे भी अपने को उतना ही "धर्मवादी" समझते रहे हों, जितना अन्य भिक्षु गण। जो हो महास्थविर मोग्गलिपुत्त की अध्यक्षता में यह संगीति पाटलिपुत्र में ही हुई और अपने उद्देश्य में सफल हुई।

इस संगीति में भी 'धर्म' और 'विनय' का संगायन ही हुआ लेकिन लगता है कि इसी समय के आस–पास धर्म का एक अंश "अभि–धर्म" के तौर पर पृथक् भी संगृहीत हो गया था–– जो अभिधर्म–पिटक कहलाया।

इस पिटक की देशना धर्मानुरूप रहने पर भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस की भी देशना भगवान् बुद्ध के श्रीमुख से हुई थी। अभिधर्म–पिटक 'के सात ग्रन्थों में से एक–कथा वत्थु प्रकरण के

बारे में तो साफ तौर पर ही लिखा है कि उस का भाषण अशोक-गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स ने इसी तीसरी संगीति में किया था।

जो हो तीसरी संगीति होने तक 'धर्म' और 'विनय' सूत्र-पिटक, विनय-पिटक तथा अभिधर्म-पिटक के रूप में पृथक्-पृथक् स्थिर हो चला था। किस पिटक में उस समय ठीक कौन-कौन से और कितने सूत्र थे, यह आज कह सकना कठिन है।

इस संगीति में एक हजार भिक्षुओं ने भाग लिया था, और यह भी महीनों तक चलती रही।

प्र. 242 : जम्बुद्वीप के भिन्न-भिन्न जनपदों में तो पहले से ही धर्म-प्रचार हो रहा था, भारत से बाहर विदेशों में कब से धर्म-प्रचार होना आरम्भ हुआ ?

उ. : ऐसा लगता है कि विदेशों में धर्म-प्रचार का कार्य महास्थविर मोग्गलिपुत्र की प्रेरणा से महाराज अशोक के ही समय आरम्भ हुआ। एक बार महाराज अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रति अपने द्वारा किये गये उपकारों का ध्यान कर महास्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स से पूछा—

"भन्ते! क्या मेरे जैसे व्यक्ति को धर्म का दायाद (उत्तराधिकारी) कहा जा सकता है।"

स्पष्ट-वक्ता मोग्गलिपुत्र तिस्स ने कहा—"राजन्! भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में भी तुम्हारे जैसा धर्म का सहायक कोई नहीं हुआ, तब भी तुम धर्म के उत्तराधिकारी नहीं कहला सकते ?"

"भन्ते! क्या करने से मैं धर्म का उत्तराधिकारी कहला सकूंगा ?"

"यदि तुम्हारा पुत्र महेंद्र तथा पुत्री संघमित्रा प्रव्रज्या लाभ करेंगे, तो तुम अवश्य धर्म के उत्तराधिकारी कहला सकोंगे।"

राजा ने धर्म का उत्तराधिकारी बनने की इच्छा से महेंद्र तथा संघमित्रा को प्रव्रजित होने की अनुमति दी।

प्र. 243 : महाराज अशोक के समय महास्थविर मोग्गलिपुत्र की प्रेरणा से कौन-कौन भिक्षु किन-किन देशों में धर्म-प्रचारार्थ गये ?

उ. महास्थविर मोगलिपुत्र तिस्स ने कश्मीर और गन्धार राष्ट्र में मध्यांतिक स्थविर को भेजा, महिंसक–मण्डलं (महेश्वर) में महादेव स्थविर को भेजा, वनवासी (बम्बई प्रान्त) में रक्षित स्थविर को भेजा, अपरान्त में योनक (यवनक) धर्मरक्षित को भेजा, महाराष्ट्र में महाधर्म-रक्षित को भेजा, योनक (योवन–देश) में महारक्षित स्थविर को भेजा। हिमवान (हिमालय) प्रदेश में मध्यम (मज्झिम) स्थविर को भेजा, सुवर्ण भूमि (पेगु=वर्मा) में सोणक और उत्तर को भेजा तथा लंका-द्वीद में भेजा स्वयं अशोक–पुत्र महामहेन्द्र को।

यूं मध्य-मण्डल से बाहार के जनपद होने की दृष्टि से ये सारे प्रदेश ' विदेशी ' ही समझे जा सकते थे, किन्तु वास्तव में इनमें से पड़ोसी ग्रीस (यवन प्रदेश), सुवर्ण–भूमि (बर्मा) तथा श्री. लङ्का द्वीप (सिलोन) को ही विदेश माना जा सकता हैं।

ये महास्थविर–गण अकेले कहीं नहीं गये, कम–से–कम चार अन्य भिक्षुओं को भी अपने साथ ले गये, क्योंकि मध्यमण्डल के बाहर किसी को भी ' उपसम्पन्न ' करने के लिये कम–से–कम पाँच भिक्षुओं का होना अनिवार्य था।

प्र. 244 : त्रिपिटक प्रथम बार लिपि–बद्ध कहाँ हुआ ? किस समय हुआ ?

उ. : राजा वट्टगामणी के समय, प्रथम शताब्दी में ही श्री लङ्का–द्वीप के आलोक–विहार में भिक्षुओं ने त्रिपिटक को लिपि–बद्ध किया। विनय की अट्ठकथा में लिखा है कि सूत्र–पिटक के अन्तर्गत गिने जानेवाले दीर्घ–निकाय में ब्रह्म जाल आदि ३७ सूत्र हैं। (२) मज्झिम–निकाय में मध्यम–पण्णास के पन्द्रह–वर्ग और मूल–पर्याय आदि एक सौ तिरेपन सूत्र हैं, (३) संयुक्त–निकाय में वेदना–संयुक्त आदि (५४ संयुक्त) और ओघ–तरण आदि सात हजार सात सौ बासठ सूत्र हैं, (४) अंगुत्तर निकाय में ग्यारह निपात और वित्त–परियादान आदि नौ हजार पाँच सौ सत्तावन सूत्र हैं।

दीघ-निकाय आदि चार निकायों के अतिरिक्त शेष बुद्ध वचन खुद्दक-निकाय है।

यदि यहाँ विनय-पिटक तथा अभिधम्म-पिटक का भी विस्तार दिया रहता, तो अच्छा था। इस उद्धरण से इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भगवान बुद्ध के एक हजार वर्ष बाद ही सही, अट्ठकथाओं के काल में, बुद्ध-वचन का उक्त-अंश विद्यमान था।

बुद्ध-वचन को अट्ठकथाओं से भिन्न करने के लिये उन्हें पालि (पंक्ति) कहने की प्रथा थी। बाद में यह शब्द एक प्रकार से मागधी का ही पर्याय बन गया, और मूल-बुद्धवचन का तथा अट्ठकथाओं (अर्थ-कथाओं) के लिये सम्मिलित रूप से व्यवहृत होने लगा।

प्र. 245 : महाराज अशोक के भी बाद में ही सही भारत के बाहर और किन किन देशों में किस-किस समय बौद्ध--धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ ?

उ, : सिंहल के अतिरिक्त पड़ोसी सुवर्ण-भूमि का हम उल्लेख कर चुके हैं कि अशोक के समय में ही महास्थविर मोग्गलिपुत्र तिस्स की प्रेरणा से सोन तथा उत्तर वहाँ प्रचार करने गये थे। सुवर्ण-भूमि आधुनिक बर्मा का भूमि भाग है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में ही बर्मा में बौद्धधर्म के बीज का आरोपण हो गया था।

न केवल बर्मा ही सुवर्ण-भूमि है, बल्कि मलय, जावा, सुमात्रा आदि का सारा भूमि-भाग ही प्राचीन "सुवर्ण-द्वीप" हैं। लगता है कि भारतीयों ने इस प्रदेश की सुवर्ण-भूमि अथवा सुवर्ण-दीप का नाम इसलिये दिया कि वहाँ के व्यापार से वे अत्यधिक लाभान्वित होते थे। वे वहाँ इतनी अधिक संख्या में पहुँचे कि इस सारे प्रदेश का दूसरा नाम ही हिन्द-चीन पड़ गया। वे जहाँ-जहाँ गये, स्वभावतः अपना धर्म साथ लेते गये। ६८४ ई. में बौद्ध राजा श्री जयनाग श्रीविजय (सुमात्रा) का शासक था।

सुमात्रा से आगे यव-दीप वर्तमान जावा है। ई. ४१४-१५ में भारत से सिंहल होकर लौटते समय फाशियान पाँच महीने यव दीप में

ठहरा था। उस सयय जावा में बौद्धधर्म विद्यमान था और ओज पर था।

यव–दीप से आगे बाली–दीप है। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब ईचिङ ने बाली की यात्रा की थी, तब उस के लेख के अनु सार बाली में बौद्धधर्म के "मूल सर्वस्तिवाद निकाय" का प्रचार था।

यव–दीप के आगे का प्रदेश बोर्नियों भी बौद्ध--धर्म से शून्य नहीं रहा। वहाँ। का प्राचीन वास्तु–शिल्प इस का प्रमाण हैं।

हिन्द–चीन का एक भूमि भाग 'चम्पा' कहलाता था। सातवीं सदी के ही उत्तरार्ध में यात्री ई-ङ 'चम्पा' के बारे में भी लिखता हैं––"इस देश में अधिकांश बौद्ध आर्य–सम्मितीय निकाय के हैं। कुछ सर्वास्ति-वादी–निकाय के भी।" जान पड़ता है नौवीं शताब्दी से पहले स्थविरवाद का वहाँ प्रचार था।

चम्पा के पश्चिम में एक दूसरा प्रदेश अवस्थित था, जिसे चीनी लोग 'फूनान' कहा करते थे। अपनी समृद्धि के युग में फूनान ने आधुनिक स्याम तक को अपने में समेट रखा था। वहाँ के चौथी सदी के शिला–लेखों से पता लगता है, कि समुद्र–तट पर कई बौद्ध केन्द्र थे।

कम्बोज बौद्धधर्म और ब्राह्मण–धर्म का दंगल–स्थल रहा हैं। वर्णाश्रम–धर्म की विजय-पताका फहराने पर बौद्ध--धर्म नहीं टिक सकता, और जातिवाद का नाश हो जाये तो फिर ब्राह्मण--धर्म खड़ा नहीं रह सकता। कम्बोज का जगत्-प्रसिद्ध अंगोर वट पहले बौद्ध विहार ही था। कम्बोज में बौद्ध-धर्म ने बहुत ऊँच-नीच देखी। इस समय वहाँ स्थविर--बाद स्थापित हैं।

बर्मा के ऊपर तथा मलाया–द्वीप के उत्तर में आधुनिक थाईलैंड है, जिस का पहले का नाम स्याम रहा है। यह कहना कठिन हैं कि वहाँ बौद्ध---धर्म का प्रवेश कब हुआ? वहाँ के बौद्धों का कहना है कि अशोक के समय सोण तथा उत्तर के जो भारतीय धर्व–दूत सुवर्ण–भूमि में धर्म प्रचारार्थ आये थे, वे वस्तुतः हमारे ही यहाँ आये थे। पिछले दो हजार वर्ष में थाईलैन्ड में कभी महायान की प्रधानता रही, कभी स्थविरवाद की। इस समय स्थविरवादी बौद्ध-धर्म वहाँ का राज-कीय–धर्म है।

बौद्ध-धर्म का प्रचार कुछ पूर्वी-एशिया तक ही सीमित नहीं रहा है। पश्चिमी एशिया में भी उस का प्रचार हुआ। स्वेन-चाङ के समय में समरकेन्द में बौद्ध-विहार थे। बाख्तर का बौद्ध-विहार बहुत विशाल एवं बहुत प्रसिद्ध था।

भारत के उत्तर-पूर्व में काशगर, कूचा, खोतन, तुर्फान आदि नगरों तथा प्रदेशों में भी बौद्ध-धर्म स्थापित रहा है। ईसा की तीसरी शताब्दी में कूचा बौद्ध-धर्म का बड़ा केन्द्र रहा है। वहाँ एक हजार मन्दिर और विहार थे। विहार सुन्दर कला के निधान थे। विद्या का बहुत सम्मान था। विद्याध्ययन के लिये विद्यार्थी भारत तक की दौड़ लगाते थे।

जन-संख्या और क्षेत्र के विस्तार से चीन बहुत बड़ा देश है। कहा जाता है कि सम्राट् मिङ के निमंत्रण पर पधारे वहाँ के प्रथम बौद्ध-धर्म-प्रचारक भिक्षु मातङ तथा भिक्षु-धर्म रत्न थे। सम्राट् मिङ का समय प्रथम शताब्दी माना जाता है। इस प्रकार चीन में पिछले दो हजार वर्ष से बौद्ध-धर्म का प्रचार-प्रसार चला आ रहा हैं।

प्र. 246 : क्या कम्युनिस्ट चीन में भी बौद्ध-धर्म है ?

उ. : कम्युनिस्ट सरकार किसी के भी व्यक्तिगत-धर्म में हस्तक्षेप नहीं करती प्रतीत होती। हाँ, जितने अंश में "धर्म" श्रमिक वर्ग का "शोषण" करता है, उतने अंश में वह वहाँ असह्य हो सकता है।

प्र. 247 : तिब्बत तो चीन की अपेक्षा भारत के बहुत समीप है, वहाँ बौद्धधर्म का सर्वप्रथम प्रवेश कब हुआ ?

उ. : तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार सातवीं शताब्दी में हुआ। चीन की अपेक्षा भारत के अधिक समीप होने पर भी, तिब्बत में बौद्ध-धर्म के विलम्ब से प्रचारित होने का कारण वहाँ की जातियों का प्रधान-रूप से 'घुमन्तु" होना कहा जा सकता है। तिब्बती में जो "बुद्ध-वचन" वह कंजूर कहलाता है। कं का अर्थात् 'बुद्ध' और जूर का अर्थ 'शास्त्र'। बौद्ध-धर्म का प्रवेश होने के लगभग सौ वर्ष बाद तिब्बत के प्रसिद्ध विहार 'समये' का निर्माण हुआ।

प्र 248 : तिब्बत के और उत्तर में मंगोल-प्रदेश है, वहाँ भी तो

बौद्ध--धर्म पहुंचा ही होगा ?

उ. : तिब्बती बौद्ध–धर्म प्रचारकों को मंगोल देश में भी बौद्ध–धर्म के प्रचार में बहुत कठिनाई नहीं हुई । फग्स–पा के गुरु तथा चचा साक्य महापंडित आनंदध्वज ने तेरहवीं शताब्दी में मंगोलों में जाकर धर्म–प्रचार किया था । यह वह समय था, जब भारत मे बौद्धधर्म का प्रदीप टिमटिमाने लग गया था ।

प्र. 249 : कोरिया तथा जापान में बौद्ध–धर्म कैसे पहुँचा ?

उ. : चीन से बौद्ध–धर्म कोरिया में पहुँचा और कोरिया से आगे जापान में । इन देशों में बौद्ध–धर्म का महायानी–रूप ही स्थापित है । कई जापानी भिक्षु–धर्म प्रचार के कार्य में बहुत दिलचस्पी लेते हैं । इस का प्रमाण उन के भारत तथा अमरीका में बौद्ध–धर्म के प्रचार के प्रयत्न हैं ।

प्र. 250 : क्या यूरोप के भी कुछ देशों में बौद्ध–धर्म का प्रचार हुआ ?

उ. : हाँ, सोवियत–भूमि के कई जनतंत्र राज्य ऐसे हैं, जहाँ बौद्ध--धर्म की प्राचीन परम्परायें अपने अपने छुट--फुट रूप में विद्यामान हैं । आधुनिक समय में इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस आदि सभी देशों में बौद्धधर्म के प्रचार का कार्य चालू है ।

प्र. 251 : क्या अमरीका में भी बौद्ध–धर्म का प्रचार किया जाता है ?

उ. : अमरीका में ही नहीं, अफ्रीका में भी ।

प्र. 252 : यूँ तो सभी कुछ ‘ अनित्य ” है, बौद्धधर्म भी इस का अपवाद नहीं हो सकता, तो भी यह जानने की इच्छा होती ही है कि जो बौद्ध–धर्म अपने गुणों के कारण संसार के इतने देशों में फैला, वही अपनी जन्म–भूमि भारत से ही क्यों विलुप्त हो गया ?

उ. : इस का एक उत्तर तो यही है कि यह आवश्यक नहीं कि बाजार में खोटे सिक्के का चलन न हो । अनेक बार ‘ खोटा सिक्का ’ भी अच्छे सिक्के को बाजार से निकाल देता है । कोई नहीं कहेगा कि दूध से शराब अच्छी चीज है किन्तु ‘ दूध ’ की अपेक्षा शराब ही महंगी बिकती

है। इसलिये किसी चीज का बाजार में प्रचलन होना, उस के अच्छे होने का प्रमाण नहीं और किसी चीज का बाजार में प्रचलन न होने उस के खोटे होने का भी नहीं।

दूसरा उत्तर यह है कि यदि हम बौद्ध-धर्म को तीन हिस्सों में बाँट कर विचार करें तो बात अधिक स्पष्ट हो जायगी--(१) बौद्ध दर्शन, (२) बौद्ध-सदाचार (३) बौद्ध-समाज।

जहाँ तक बौद्ध-दर्शन की बात है, आज का सारा भारतीय दर्शन बौद्ध-दर्शन से प्रभावित है। सच पूछो तो भगवान् बुद्ध से पूर्व भारत में दर्शन था ही नहीं। हमारे प्रसिद्ध छह दर्शनों में से एक भी बुद्ध-पूर्व नहीं है। अद्वैतवादी वेदान्त-दर्शन, जिस का आज इतना प्रचार है अद्वय-वादी बौद्ध-दर्शन की ही छाया मात्र है।

बौद्ध-सदाचार से भी बुद्धोत्तरकालीन भारतीय समाज कम प्रभावित नहीं। आज पशु-बलि-प्रधान यज्ञ-याग कहाँ देखने में आते हैं! स्मृतियों के धर्म के दस लक्षण बुद्धोतर-कालीन ही हैं।

शेष रहा बौद्ध-समाज। वह अवश्य भारत से लुप्त हो गया। बौद्ध समाज के दो हिस्से थे--भिक्षु और उपासक। वर्णाश्रमि-समाज, चार वर्णो का पक्षपाति था, जिस में 'ब्राह्मण' का दर्जा सर्वोपरी था। 'बौद्ध-समाज' और 'चातुवर्णी समाज'--दोनों समाजों में से एक ही टिक रह सकता था; बौद्ध समाज टिका नहीं रहा।

प्र. 253 : तो इतने बड़े विशाल बौद्ध समाज का क्या हुआ ?

उ. : उस समय का बौद्ध समाज धर्म की भिन्नता के बावजूद सामाजिक दृष्टि से भिन्न न था। आत्म-संरक्षण की भावना के हिसाब से यह उस की कमी भी हो सकती है। इसलिये उस का कुछ "नर्म-दली" हिस्सा तो वर्णाश्रमी-समाज में शामिल हो गया होगा। किन्तु जिन्हे वर्णाश्रमधर्म एक आँख न भाता था, वैसे कुछ लोगों ने वर्णाश्रमी हिन्दु-धर्म की अपेक्षा मुसलमान बनना अच्छा समझा होगा। वे मुसलमान हो गये होंगे। शेष बहूसंख्यक बौद्ध समाज--जो न वर्णाश्रमी बनना चाहता था और न मुसलमान बनना चाहता था--अछूत-अनत्यज बना

दिया गया।

प्र. 254 : तो क्या यह कथन ऐतिहासिक सचाई रखता है कि आज के " अछुतों " के पूर्वज प्राय: सभी " बौद्ध " थे।

उ. : किसी ऐतिहासिक तथ्य में जितनी भी सचाई हो सकती है, उतनी ही सचाई इस में भी है।

प्र. 255 : यह जो कहा जाता है कि शंकराचार्य ने बौद्धधर्म को इस देश से निकाल बाहर किया, यह कहाँ तक ठीक है ?

उ. : शङ्कराचार्य का अपना जीवन अपेक्षाकृत अल्पकालीन था। उस का समय सातवीं–आठवीं शताब्दी कूता गया है। शङ्कराचार्य के बाद भारत में दीर्घकाल तक बौद्ध–धर्म की ज्योति प्रज्वलित रही। जिन्हों ने शङ्कराचार्य के दर्शन का विवेचन किया है, उन्हों ने स्वयं शङ्कराचार्य का " प्रच्छन्न बौद्ध " (छिपा हुआ बौद्ध) तक कहा है।

प्र. 256 : भारत में बौद्ध–धर्म की पुनः स्थापना की कहाँ तक सम्भावना है ?

उ. : भारत में बौद्ध–धर्म पूर्ण–रूप से कभी उच्छिन्न हुआ नहीं। उत्तर में कश्मीर तथा लाहुल जैसे प्रदेशों में और पूर्व में चटगाँव आदि जिलों में परम्परागत बौद्ध समाज बराबर बना रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में महास्थविर बोधानंद जी तथा महावीर स्वामी सदृश भारतीय भिक्षुओं, महास्थविर चन्द्रमणी तथा महास्थविर कित्तिमा जी जैसे बर्मी भिक्षुओं तथा सिंहल के प्रसिद्ध धर्म–प्रचारक अनागारिक धर्मपाल जैसों के अथक प्रयत्न और तपस्या के फल–स्वरूप आधुनिक भारत ने नये सिरे से बौद्ध–धर्म को अपनाया है। अभावगत डॉ. भीमराव के बहुसंख्यक अनुयाइयों के बौद्ध हो जाने के बाद तो अभावगत महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में " भारत में बौद्ध–धर्म का ऐसा खम्भा गड़ गया, जिसे अब कोई हिला नहीं सकता। "

प्र. 257 : इस समय भारत में बौद्धों की संख्या कितनी होगी ?

उ. : भारत में दो तरह के बुद्ध–भक्त हैं, एक वे जो भगवान् बुद्ध के प्रति अगाध श्रद्धा रखते हुए भी कारणवश " बौद्ध " कहलाने में

हिचकिचाते हैं, दूसरे वे जो "बौद्ध" कहलाने में महान्–गौरव अनुभव करते हैं। ऐसे लोग जिन्होंने त्रिशरण तथा पंचशील ग्रहण कर 'बौद्धधर्म' अपनाया है भारत में एक करोड़ तथा दो करोड़ के बीच होने चाहिये किन्तु पिछली जन–गणना में उनकी संख्या केवल सैंतीस लाख दिखाई गई है।

प्र. 258 : यह संख्या कम करके क्यों दिखाई गई है ?

उ. : सम्भवतः इसलिये कि क्योंकि जन–गणना करनेवालों में कोई भी "बौद्ध" न था। फिर अब तो गत जन–गणना के बाद भी बहुत से लोग "दिक्षा" ग्रहण कर चुके हैं।

प्र. 259 : क्या बिना 'दीक्षा' ग्रहण किये भी कोई अपने आपको "बौद्ध" कह सकता है ?

उ. : नैतिक दृष्टि से "हाँ", कानूनी–दृष्टि से शायद।

प्र. 260 : कानूनी दृष्टि से भी वह अपने आप को बौद्ध क्यों नहीं कह सकता ?

उ. : क्योंकि इस तथाकथित धर्म–निरपेक्ष राज्य में कुछ सीटों से चुनाव लड़ने के लिये चुनाव लड़नेवालों को यह भी सिद्ध करना पड़ता है कि वे "बौद्ध" नहीं हैं। बिना किसी भी दीक्षा के ही किसी भी हिन्दु को हिन्दु मान लिया जाता है; क्योंकि हिन्दु-धर्म के अनुसार आदमी की जात–पात (और इसलियें उस का धर्म भी) उस के जन्म पर निर्भर करता है। दीक्षा लेने न लेने का प्रश्न शायद 'बौद्ध' के लिये ही है, या दूसरे धर्म–वालों के लिये भी, जो धर्म परिवर्तन में विश्वास रखते है।

प्र. 261 : भारत में बौद्ध भिक्षु कितने होंगे ?

उ. : भारत–स्थित बौद्ध भिक्षुओं को भी दो श्रेणी में बाँटना होगा एक वे जो पड़ोसी देशों से भारत में धर्म-प्रचारार्थ अथवा अध्ययनार्थ आये हैं। दूसरे वे कि जिनकी जन्म–भूमि तथा कर्म–भूमि भारत ही है। ऐसे "भारतीय" भिक्षुओं की संख्या इस समय लगभग दो दर्जन होगी।

प्र. 262 : भारत में कौन-कौन सी संस्थायें बौद्ध धर्म-प्रचार का कार्य कर रही हैं ?

उ. : वे छुट-पुट इतनी हैं कि उन के नाम नहीं गिनाये जा सकते। भारतीय बौद्ध महासभा तथा भारतीय महाबोधिसभा अधिक ज्ञात हैं।

प्र. 263 : इन का कार्य तो बहुत संतोषजनक नहीं।

उ. : आलोचना करने से कुछ लाभ नहीं, जो अपने से बन पड़े करना चाहिये।

प्र. 264 : बौद्धों के सामने इस समय कौन–कौन से मुख्य काम हैं ?

उ. : कामों की क्या कमी है— (१) अपने पवित्रतम स्थानों बौद्ध-गया विहार आदि की व्यवस्था बौद्धों के हाथ में ही होनी चाहिये। (२) हिन्दुओं से पृथक बौद्धों का अपना (कायदा–कानून) होना चाहिये। (३) भिन्न-भिन्न राज्यों के विश्वविद्यालयों, कालेजों तथा स्कूलों में भी संस्कृत के साथ-साथ, और अधिक विद्यार्थी होने पर पालि के अध्ययन अध्यापन की स्वतन्त्र व्यवस्था होनी चाहिये। (४) भारतीय भाषाओं में बौद्ध–साहित्य के लिखे जाने, मुद्रण, प्रकाशन तथा बिक्री की सुसंगठित व्यवस्था होनी चाहिये। (५) भारतीय भिक्षुओं का अध्ययन कार्य तथा उन के द्वारा किये जानेवाला प्रचारकार्य सुव्यवस्थित होना चाहिये। (६) भारतीय बौद्धों का अपने पड़ोसी देशों के बौद्ध–बन्धुओं से दृढ़ सम्पर्क स्थापित होना चाहिये।

काम बहुत हैं, करनेवालों की ही कमी है।

★ ★ ★

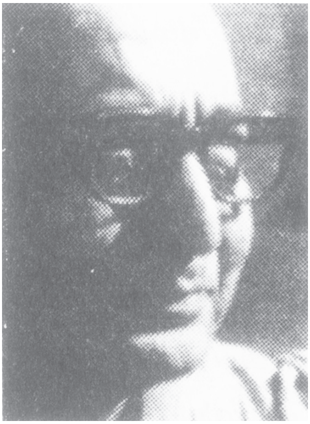

डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन

अन्य प्रकाशन :

१) पाली वाङ्मय में बोधिसत्व सिद्धान्त
२) यदि बाबा न होते
३) An Intelligent Man's guide to Buddhism
४) दर्शन (वेद से मार्क्स तक)
५) राम कहानी राम की जबानी
६) मनुस्मृति जलाई गई, क्यों?
७) बुद्ध और उनके समकालीन भिक्षु
८) बौद्ध जीवन पद्धति
९) धम्म पदं
१०) एशिया के महान बौद्ध सम्राट
११) बौद्ध-धर्म एक बुद्धिवादी अध्ययन

“Wherever the Buddha’s teachings have flourished,
either in cities or countrysides,
people would gain inconceivable benefits.
The land and people would be enveloped in peace.
The sun and moon will shine clear and bright.
Wind and rain would appear accordingly,
and there will be no disasters.
Nations would be prosperous
and there would be no use for soldiers or weapons.
People would abide by morality and accord with laws.
They would be courteous and humble,
and everyone would be content without injustices.
There would be no thefts or violence.
The strong would not dominate the weak
and everyone would get their fair share.”

THE BUDDHA SPEAKS OF
THE INFINITE LIFE SUTRA OF
ADORNMENT, PURITY, EQUALITY
AND ENLIGHTENMENT OF
THE MAHAYANA SCHOOL

With bad advisors forever left behind,
From paths of evil he departs for eternity,
Soon to see the Buddha of Limitless Light
And perfect Samantabhadra's Supreme Vows.

The supreme and endless blessings
of Samantabhadra's deeds,
I now universally transfer.
May every living being, drowning and adrift,
Soon return to the Pure Land of
Limitless Light!

~The Vows of Samantabhadra~

I vow that when my life approaches its end,
All obstructions will be swept away;
I will see Amitabha Buddha,
And be born in His Western Pure Land of
Ultimate Bliss and Peace.

When reborn in the Western Pure Land,
I will perfect and completely fulfill
Without exception these Great Vows,
To delight and benefit all beings.

~The Vows of Samantabhadra
Avatamsaka Sutra~

DEDICATION OF MERIT

May the merit and virtue
accrued from this work
adorn Amitabha Buddha's Pure Land,
repay the four great kindnesses above,
and relieve the suffering of
those on the three paths below.

May those who see or hear of these efforts
generate Bodhi-mind,
spend their lives devoted to the Buddha Dharma,
and finally be reborn together in
the Land of Ultimate Bliss.
Homage to Amita Buddha!

NAMO AMITABHA
南無阿彌陀佛

【印度 HINDI 文：AN INTELLIGENT MAN'S GUIDE TO BUDDHISM】

財團法人佛陀教育基金會　印贈
台北市杭州南路一段五十五號十一樓

Printed and donated for free distribution by
The Corporate Body of the Buddha Educational Foundation
11F., 55 Hang Chow South Road Sec 1, Taipei, Taiwan, R.O.C.
Tel: 886-2-23951198 , Fax: 886-2-23913415
Email: overseas@budaedu.org
Website:http://www.budaedu.org
Mobile Web: m.budaedu.org

This book is strictly for free distribution, it is not to be sold.
यह पुस्तिका विनामूल्य वितरण के लिए है बिक्री के लिए नही ।

Printed in Taiwan
3,000 copies; April 2015
IN004-13114